



आचार्य मानतुंग विरचित

भक्तामर स्रोतम्

प्रस्तावना

इस स्तोत्र का प्रारम्भ भक्त + अमर = भक्तामर शब्द से होता है; इसलिए इसका नाम **भक्तामर स्तोत्र** सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वप्रचलित हो गया है।

इसके प्रथम काव्य (श्लोक) के तृतीय पाद में प्रयुक्त **युगादौ** शब्द तथा द्वितीय काव्य के चतुर्थ पाद में प्रयुक्त **प्रथमं जिनेन्द्रम्** शब्द के कारण इसे प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के नाम पर **आदिनाथ स्तोत्र** या ऋषभ स्तोत्र भी कहा गया है। इस स्तोत्र की विशेषता है कि - इसमें किसी तीर्थंकर विशेष के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है, अतः इसे सभी तीर्थंकरों की भक्ति के लिए भी उपयोग किया जा सकता है।

यह स्तोत्र मात्र **48 काव्य** (श्लोक) प्रमाण है। सभी काव्य **वसन्ततिलका छन्द** में निबद्ध है। प्रथम दो काव्यों (1-2) में **जिनेन्द्र स्तुति करने का संकल्प** किया गया है। इसके बाद चार काव्यों (3-6) में अपनी **लघुता, अल्पज्ञता, अक्षमता** का प्रदर्शन किया गया है, पश्चात् बीस काव्यों (7-26) में विभिन्न उपमाओं द्वारा **जिनेन्द्र स्तुति** एवं उसके **फल का चित्रण** किया गया है। ग्यारह काव्यों (27-37) में अरिहंत भगवान के समवसरण के अलौकिक वैभव **अष्ट प्रातिहार्यों** का वर्णन है, दस काव्यों (38-47) में जिनेन्द्र भक्ति से **भय, संकट आदि का निवारण सहज संभाव्य** है तथा अन्तिम काव्य (48) में **जिनेन्द्र स्तुति का फल** बताया गया है।

इस स्तोत्र में कवि ने अपने इष्टदेव में 'कर्तृत्व' का आरोप नहीं किया; अपितु अपने आराध्य इष्टदेव का गुणगान करते हुए यह ही कहा है कि जो निस्वार्थ भाव से आपका निरन्तर स्मरण करता है, भक्ति करता है उसको **सिंह, हाथी, सर्प, अग्नि, समुद्र, शत्रु, सेना, रोग, आपत्ति, विपत्ति**, आदि के भय से स्वयमेव ही मुक्ति मिल जाती है (काव्य 38-47), इस प्रकार इस स्रोत में कवि ने कहीं भी भगवान से कोई याचना नहीं की है। अतः यह स्तोत्र **निष्काम भक्ति** का उत्कृष्ट

उदाहरण है। इसी निष्काम भक्ति के फलस्वरूप उन्हें स्वतः ही इष्ट फल (बन्धन से मुक्ति) की प्राप्ति हुई।

इस भक्तिपूर्ण स्तोत्र के रचयिता **आचार्य मानतुंग** हैं। उनकी इस एकमात्र रचना ने ही उन्हें जैन भक्ति के काव्य सृजकों में सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया है। आपके परिचय के बारे में अधिक जानकारी तो नहीं मिलती है। समय के सम्बन्ध में भी भिन्न भिन्न मान्यताएँ हैं। परन्तु उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर आपका समय **सातवीं शताब्दी** के मध्य माना जाता है।

आचार्य मानतुंग के बारे में यह कथा/किंवदन्ती प्रचलित है कि राजा भोज की आज्ञा के अनुसार राजदरबार में उपस्थित न होने के कारण क्रोधित होकर राजा ने आपको बन्दी बनाकर 48 तालों के अन्दर कारागार में बन्द करवा दिया था। परन्तु आपने बन्दी रूप में ही इन 48 काव्यों (श्लोकों) की रचना करके जिनेन्द्र देव! की भावपूर्ण स्तुति की, जिसके फलस्वरूप वे 48 ताले स्वतः ही खुल गये/टूट गये।

ऐतिहासिक वस्तुस्थिति जो भी हो, परन्तु आज सम्पूर्ण जैन समाज की दिगम्बर - श्वेताम्बर दोनों धाराओं में यह भक्ति स्तोत्र सर्वाधिक मान्य एवं प्रचलित है। अनेक साधर्मी भाई-बहिनों को तो यह कंठस्थ भी है। आप भी इस भक्तिपूर्ण स्रोत का भावपूर्वक अध्ययन, मनन, चिन्तन करके शीघ्र ही मोक्षरूपी विभूति को प्राप्त करेंगे – इस मंगल भावना के साथ...

9 अप्रैल 2020

रूपेन्द्र शास्त्री, छिन्दवाड़ा

जिनपद वन्दन

भक्तामर प्रणत मौलि मणि प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित पाप-तमो वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिन-पादयुगं युगादा-
वालम्बनं भव-जले पततां जनानाम् ॥1॥

पदच्छेद : भक्त-अमर प्रणत मौलि मणि प्रभाणाम्, उद्योतकं दलित पाप तमः वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिन-पादयुगं युग-आदौ, आलम्बनं भवजले पततां जनानाम्।

अन्वय : भक्तामर प्रणत मौलि मणि प्रभाणाम् उद्योतकम्, पाप तमः वितानं दलितम्।
युगादौ भवजले पततां जनानां आलम्बनम्, जिनपादयुगं सम्यक् प्रणम्य।

शब्दार्थ : भक्त - भक्त, अमर - देवों के, प्रणत - झुके हुए, मौलि - मुकुटों के, मणि -
मणियों की, प्रभाणाम् - प्रभा (कान्ति) को, उद्योतकम् - बढ़ाने वाले, पाप - पाप रूपी,
तमः - अंधकार के, वितानम् - विस्तार के, दलितम् - नाशक, युगादौ - युग के प्रारंभ में
भवजले - संसाररूपी समुद्र में, पतताम् - गिरते हुए, जनानाम् - प्राणियों को, आलम्बनम्
- सहारा देने वाले, जिन - जिनेन्द्र भगवान के, पादयुगम् - दोनों चरणों को, सम्यक् -
भली भाँति, प्रणम्य - नमस्कार करके।

श्लोकार्थ : प्रकाशमान मणि-मोतियों से जड़ित मुकुटों से शोभित देवों के झुके हुए
मस्तकों द्वारा पूजित, पापरूपी अंधकार के समूह को नष्ट करनेवाले, संसार-समुद्र में गिरे
हुए मनुष्यों को युग के आदि में (कर्मभूमि के आरंभ में) सहारा देनेवाले जिनेन्द्र भगवान!
(आदिनाथ) के चरणयुगल को भली-भाँति प्रणाम करके।

स्तुति का संकल्प

यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय तत्त्वबोधा-
दुद्भूत बुद्धि-पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रर्-जगत्-त्रितय चित्त हरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥2॥

पदच्छेद : यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय तत्त्व-बोधात्, उद्भूत बुद्धि पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैः जगत्-त्रितय चित्तहरैः उदारैः, स्तोष्ये किल अहम् अपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्।

अन्वय : यः सकल-वाङ्मय तत्त्व-बोधात् उद्भूत बुद्धि-पटुभिः सुरलोकनाथैः जगत्-
त्रितय चित्तहरैः उदारैः स्तोत्रैः संस्तुतः, तं प्रथमं जिनेन्द्रं किल अहम् अपि स्तोष्ये।

शब्दार्थ : यः - जो सकल-वाङ्मय - समस्त द्वादशांग के, तत्त्वबोधात् - यथार्थ ज्ञान से,
उद्भूत - उत्पन्न हुई, बुद्धि-पटुभिः - विशिष्ट बुद्धि से प्रखर, सुरलोकनाथैः - स्वर्ग के नाथ
इन्द्र के द्वारा जगत्त्रितय - तीनों लोक के प्राणियों के, चित्तहरैः - चित्त को हरण करने
वाले, उदारैः - उत्कृष्ट (प्रशंसनीय) स्तोत्रैः - स्तोत्र द्वारा, संस्तुतः - स्तुति किये गये, तम्
- उन, प्रथमं जिनेन्द्रम् - प्रथम जिनेन्द्र (आदिनाथ) की, अहम् - मैं, अपि - भी, स्तोष्ये
- स्तुति करूंगा।

श्लोकार्थ : सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणी के यथार्थ ज्ञान को जानने से जिनकी बुद्धि
अत्यन्त प्रखर हो गई है, ऐसे देवेन्द्रों ने तीन लोक के प्राणियों के चित्त को आनन्दित
करने वाले सुन्दर स्तोत्रों द्वारा जिनकी स्तुति की गयी है उन प्रथम जिनेन्द्र भगवान
(आदिनाथ) की मैं भी स्तुति करूंगा।

लघुताभिव्यक्ति

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित पाद-पीठ!

स्तोतुं समुद्यत मतिर्-विगत त्रपोऽहं।

बालं विहाय जल संस्थित-मिन्दुबिम्ब-

मन्यः कः इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

पदच्छेद : बुद्ध्या विना-अपि विबुध-अर्चित पादपीठ, स्तोतुं समुद्यत मतिः विगत-त्रपः अहम्। बालं विहाय जल संस्थितम् इन्दु-बिम्बम्, अन्यः कः इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्।

अन्वय : विबुधार्चित पादपीठ विगत-त्रपः बुद्ध्या विना-अपि अहम् स्तोतुं समुद्यत-मति। जल-संस्थितम् इन्दु-बिम्बं सहसा ग्रहीतुं बालं विहाय अन्यः कः जनः इच्छति।

शब्दार्थ : विबुधार्चित - देवों के द्वारा पूजित है, पादपीठ - सिंहासन जिनका ऐसे हे जिनेश! विगतत्रपः - लज्जा रहित, अहम् - मैं, बुद्ध्या-विनापि - बुद्धिहीन होने पर भी, स्तोतुम् - स्तवन करने के लिए, समुद्यत-मतिः - तत्पर बुद्धि वाला हो रहा हूँ। जल-संस्थितम् - जल में स्थित, इन्दु-बिम्बम् - चन्द्रमा की छाया को, सहसा - बिना विचारे, ग्रहीतुम् - ग्रहण करने के लिए, बालम् - बालक को, विहाय - छोड़कर, अन्यः - दूसरा, कः - कौन, जनः - प्राणी, इच्छति - इच्छा रखता है?

श्लोकार्थ : देवों द्वारा पूजित है सिंहासन जिनका ऐसे हे जिनेन्द्र देव! अत्यन्त अल्पबुद्धि वाला (बुद्धिहीन) होने पर भी मैं जो आपकी स्तुति करने के लिए तत्पर हुआ हूँ यह मेरी निर्लज्जता एवं धृष्टता ही है। भला, जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पकड़ने का साहस एक नादान अबोध बालक के अतिरिक्त अन्य कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

अवर्णनीय गुण

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र! शशाङ्क कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुर-गुरु प्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्त-काल पवनोद्धत नक्र-चक्रं,
को वा तरीतुमल-मम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥4॥

पदच्छेद : वक्तुं गुणान् गुण-समुद्र! शशाङ्क कान्तान्, कः ते क्षमः सुरगुरु प्रतिमः अपि बुद्ध्या। कल्पान्त-काल पवन-उद्धत नक्र-चक्रं, कः वा तरीतुम् अलम् अंबुनिधिं भुजाभ्याम्।

अन्वय : गुण-समुद्र! ते शशाङ्क-कान्तान् गुणान् वक्तुं बुद्ध्या सुरगुरु-प्रतिमः अपि कः क्षमः? कल्पान्त-काल पवनोद्धत नक्रचक्रं अम्बुनिधिं भुजाभ्याम् तरीतुम् कः वा अलम्?

शब्दार्थ : गुणसमुद्र - हे गुणों के सागर!, ते - आपके, शशाङ्क-कान्तान् - चन्द्रमा की कान्ति के समान उज्ज्वल, गुणान् - गुणों को, वक्तुम् - कहने के लिए, बुद्ध्या - बुद्धि से, सुरगुरु-प्रतिमः - बृहस्पति के समान, अपि - भी, कः - कौन, क्षमः - समर्थ है? कल्पान्तकाल - प्रलयकाल में, पवनोद्धत - वायु से कुपित (प्रचण्ड), नक्रचक्रम् - मगरमच्छों से परिपूर्ण, अम्बुनिधिम् - समुद्र को, भुजाभ्याम् - भुजाओं से, तरीतुम् - तैरने के लिए, कः - कौन, अलम् - समर्थ है?

श्लोकार्थ : हे गुणसमुद्र! आपके अनन्त गुण चन्द्रमा की कान्ति के तुल्य निर्मल हैं। देवताओं के गुरु बृहस्पति भी उन गुणों का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। तब फिर किसकी सामर्थ्य है जो आपके सम्पूर्ण गुणों का वर्णन कर सके अर्थात् किसी में भी ऐसी शक्ति नहीं है। जैसे प्रलयकाल के पवन से उद्वेलित ऐसे समुद्र को जिसमें मगरमच्छ, घड़ियाल आदि भयंकर जलचर उथल-पुथल होकर उछल रहे हों, कौन व्यक्ति अपनी दोनों भुजाओं से तैरकर पार करने में समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं।

उमड़ती हुई भक्ति

सोऽहं तथापि तव भक्ति वशान्मुनीश!
कर्तुं-स्तवं विगत शक्ति-रपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्म वीर्य-मविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥5॥

पदच्छेद : सः अहम् तथापि तव भक्ति-वशात् मुनीश! कर्तुं स्तवं विगत-शक्तिः अपि प्रवृत्तः। प्रीत्या आत्मवीर्यम् अविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्, न अभ्येति किं निज-शिशोः परिपालनार्थम्।

अन्वय : मुनीश! तथापि विगतशक्तिः अपि सः अहं भक्तिवशात् तव स्तवं कर्तुं प्रवृत्तः। मृगी आत्मवीर्यं अविचार्य प्रीत्या निजशिशोः परिपालनार्थम् किं मृगेन्द्रं न अभ्येति !

शब्दार्थ : मुनीश! - हे मुनियों के स्वामी!, तथापि - फिर भी, विगतशक्तिः - सामर्थ्य हीन होते हुये, अपि - भी, सः - वह, अहम् - मैं, भक्तिवशात् - भक्ति के वशीभूत होकर, तव - आपकी, स्तवम् - स्तुति को, कर्तुम् - करने के लिए, प्रवृत्तः - तैयार हुआ हूँ। मृगी - हिरणी, आत्मवीर्यम् - अपनी शक्ति को, अविचार्य - विचार न करके, प्रीत्या - स्नेह के द्वारा, निजशिशोः - अपनी संतान की, परिपालनार्थ - रक्षा करने के लिए, किम् - क्या, मृगेन्द्रम् - सिंह के, नाभ्येति - सम्मुख नहीं जाती है? अर्थात् जाती ही है।

श्लोकार्थ : हे मुनियों के स्वामी! यद्यपि आपके अनन्त गुणों को कहने की शक्ति मुझमें नहीं है, फिर भी आपकी भक्ति के वशीभूत होकर आपके गुणों का स्तवन (स्तुति) करने के लिए तत्पर हुआ हूँ, जैसे हिरणी अपनी शक्ति का विचार न करते हुये प्रीतिवश अपने बच्चे की रक्षा करने के लिए क्या सिंह का सामना नहीं करती है? अर्थात् करती ही है।

स्तवन में भक्ति ही कारण

अल्प-श्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम,
त्वद्-भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्।
यत्-कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाप्र चारु-कलिका निकरैक-हेतु ॥6॥

पदच्छेद : अल्प-श्रुतम् श्रुतवताम् परिहास धाम, त्वद् भक्तिः एव मुखरी कुरुते बलात् माम्। यत् कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति, तत् च आम्र चारु कलिका निकर एक हेतुः।

अन्वय : अल्पश्रुतम् श्रुतवतां परिहासधामः माम् त्वद्भक्तिः एव बलात् मुखरी कुरुते। किल यत् कोकिलः मधौ मधुरं विरौति तत् चाप्रचारु कलिका निकरैकहेतुः।

शब्दार्थ : अल्पश्रुतम् - अल्प शास्त्र का जानने वाला, श्रुतवताम् - विद्वानों की, परिहास धाम - हँसी का पात्र बनूँगा, माम् - मुझको, त्वद्-भक्तिः - आपकी भक्ति, एव - ही, बलात् - बलपूर्वक, मुखरी कुरुते - प्रेरित कर रही है। किल - निश्चय ही, यत् - जब, कोकिलः - कोयल, मधौ - बसंत ऋतु में, मधुरम् - सुरीली आवाज में, विरौति - बोलती है, तत् च - और तब, आम्र - आम्रफल की, चारुकलिका - सुन्दर मँजरी का, निकर - समूह, एकहेतुः - एक मात्र कारण है।

श्लोकार्थ : जब आम्रवृक्षों की मंजरियाँ लहलहा उठती हैं तभी कोयल बसंत ऋतु में मीठी वाणी बोलती हैं अन्य ऋतुओं में नहीं। अर्थात् आमों की मंजरियाँ ही उसके बोलने के प्रेरणा का केन्द्र हैं। इसी प्रकार यद्यपि मैं जानता हूँ कि अल्पज्ञानी हूँ, शास्त्रों का विशेष जानकार नहीं हूँ अतः विद्वानों द्वारा हँसी, उपहास का पात्र बनूँगा, तब भी मुझको आपकी भक्ति ही बलपूर्वक आपकी स्तुति करने के लिए प्रेरित कर रही है अर्थात् मुझमें स्वयं में ऐसी शक्ति ऐसा ज्ञान नहीं है परन्तु आपकी भक्ति ही मुझे स्तोत्र रचने के लिए प्रेरित कर रही है।

पापक्षयी स्तुति

त्वत्-संस्तवेन भव संतति सन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षय-मुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त लोक-मलि नील-मशेष-माशु,
सूर्याशु भिन्नमिव शार्वर-मंधकारकम् ॥7॥

पदच्छेद : त्वत् संस्तवेन भव-सन्तति सन्निबद्धं, पापं क्षणात् क्षयम् उपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त लोकम् अलि नीलम् अशेषम् आशु, सूर्याशु भिन्नम् इव शार्वरम् अंधकारम्।

अन्वय : त्वत्संस्तवेन शरीरभाजां भवसन्तति सन्निबद्धं पापं क्षणात् क्षयं उपैति। इव
आक्रान्त लोकम् अलिनीलं शार्वरम् अन्धकारम् आशु सूर्याशु भिन्नम्।

शब्दार्थ : त्वत्संस्तवेन - आपके स्तवन से, शरीरभाजाम् - शरीरधारी प्राणियों के,
भवसन्तति - अनेक भवों की परम्परा से, सन्निबद्धम् - बंधे हुए, पापम् - पाप, क्षणात् -
क्षण भर में, क्षयम् - क्षय को उपैति - प्राप्त हो जाते हैं। इव - जैसे, आक्रान्तलोकम् - लोक
में व्याप्त, अलिनीलम् - भौर के समान काला, शार्वरम् - रात्रि का, अशेषम् - समस्त,
अन्धकारम् - अन्धकार आशु - शीघ्र सूर्याशु - सूरज की किरणों से, भिन्नम् - छिन्न-
भिन्न हो जाता है।

श्लोकार्थ : हे प्रभो! जिस प्रकार लोक में व्याप्त रात्रि का भ्रमर-समूह के समान सघन
काला अंधकार सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार
आपके स्तवन (भक्ति) से जीवधारियों के जन्म जन्मान्तरों के उपार्जित एवं बद्ध पापकर्म
तत्काल ही समूल नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् जैसे सूर्य अंधकार को शीघ्र मिटा देता है उसी
प्रकार आपकी स्तुति से जीवों के पाप क्षय हो जाते हैं।

प्रभुता का प्रभाव

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनु-धियाऽपि तव प्रभावात्
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-दलेषु,
मुक्ता फल-द्युति-मुपैति ननूद-बिन्दुः ॥४॥

पदच्छेद : मत्वा-इति नाथ! तव संस्तवनं मया-इदम्, आरभ्यते तनु धिया अपि तव प्रभावात्। चेतः हरिष्यति सतां नलिनी दलेषु, मुक्ता फल-द्युतिम् उपैति ननु उदबिन्दुः।

अन्वय : नाथ! इति मत्वा मया तनुधिया अपि तव इदम् संस्तवनं आरभ्यते। ननु तव प्रभावात् सतां चेतः हरिष्यति नलिनीदलेषु उदबिन्दुः मुक्ता फलद्युतिम् उपैति।

शब्दार्थ : नाथ! - हे जिनेन्द्र!, इति - ऐसा, मत्वा - मानकर, मया - मेरे, तनुधिया - अल्पबुद्धि द्वारा, अपि - भी, तव - आपका, इदम् - यह, संस्तवनम् - स्तवन, आरभ्यते - आरंभ किया जाता है। ननु - निश्चय ही, तव प्रभावात् - आपके प्रभाव से, सताम् - सज्जनों के, चेतः - चित्त का, हरिष्यति - हरण करेगा, उदबिन्दुः - ओस की बूँद, नलिनीदलेषु - कमलिनी के पत्तों पर, मुक्ताफलद्युतिम् - मोती जैसी कान्ति को, उपैति - प्राप्त होती है।

श्लोकार्थ : हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार कमलिनी के पत्ते पर पड़ी हुई ओस की बूँदें मोती की तरह सुन्दर दिखकर लोगों के चित्त को हरण करती है उसी प्रकार मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा किया हुआ यह स्तवन भी आपके प्रभाव से सज्जनों के चित्त को हरण करेगा।

पाप नाशक कथा

आस्तां तव स्तवन-मस्त समस्त दोषं,
त्वत्-संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्र किरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥१॥

पदच्छेद : आस्तां तव स्तवनम् अस्त समस्त दोषम्, त्वत् संकथा अपि जगतां दुरितानि हन्ति। दूरे सहस्र-किरणः कुरुते प्रभा एव, पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि।

अन्वय : अस्त-समस्तदोषं तव स्तवनं दूरे आस्तां त्वत्संकथा अपि जगतां दुरितानि हन्ति। सहस्रकिरणः प्रभा एव पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि कुरुते।

शब्दार्थ : अस्त समस्त दोषम् - समस्त दोषों से रहित, तव स्तवनम् - आपका स्तवन, दूरे - दूर, आस्ताम् - रहे, त्वत् - आपकी, संकथा - पवित्र कथा, अपि - भी, जगताम् - जगत के जीवों के, दुरितानि - पापों को, हन्ति - नष्ट कर देती है। सहस्रकिरणः - सूर्य का, प्रभा - प्रकाश, एव - ही, पद्माकरेषु - तालाबों में, जलजानि - कमलों को, विकासभाञ्जि - विकसित, कुरुते - कर देती है।

श्लोकार्थ : सम्पूर्ण दोषों से रहित आपका पवित्र कीर्तन तो दूर की बात है, मात्र आपके चरित्र की पवित्र कथा ही प्राणियों के पापों को समूल नष्ट कर देती है तब स्तवन/स्तुति की शक्ति का तो कहना ही क्या।

सूर्य के आगमन के पूर्व ही जब उसकी प्रभापुञ्ज मात्र से ही सरोवर के कमल खिल उठते हैं तब सूर्योदय होने पर तो उसकी किरणों के स्पर्श से कमल खिलेंगे ही खिलेंगे, इसमें संदेह नहीं है।

श्रेष्ठ उद्धारक

नात्यद्-भुतं भुवन भूषण! भूतनाथ!
भूतैर्-गुणैर्-भुवि भवन्त-मभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥10॥

पदच्छेद : न अति अब्द्रुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!, भूतैः गुणैः भुवि भवन्तम् अभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतः ननु तेन किं वा, भूत्या आश्रितम् यः इह न आत्म समं करोति।

अन्वय : भुवनभूषण! भूतनाथ! भूतैः गुणैः भवन्तम् अभिष्टुवन्तः भुवि भवतः तुल्यः
भवन्ति। न अति अब्द्रुतं वा ननु तेन किं प्रयोजन? यः इह आश्रितं भूत्या आत्मसमं न
करोति।

शब्दार्थ : भुवनभूषण! - हे संसार के भूषण!, भूतनाथ! - हे प्राणियों के रक्षक!, भूतैः -
सच्चे, गुणैः - गुणों के द्वारा, भवन्तम् - आपकी, अभिष्टुवन्तः - स्तुति करने वाले पुरुष,
भुवि - पृथ्वी पर, भवतः - आपके, तुल्या - बराबर, भवन्ति - हो जाते हैं। न अति-
अब्द्रुतम् - इसमें अति आश्चर्य नहीं है, वा - अथवा, ननु - निश्चय से, तेन - उस स्वामी
से, किम् - क्या प्रयोजन है? यः - जो, इह - इस लोक में, आश्रितम् - अपने आधीन
को, भूत्या - सम्पत्ति के द्वारा, आत्मसमम् - अपने समान, न - नहीं, करोति - करता है।

श्लोकार्थ : हे त्रैलोक्य तिलक! जगन्नाथ! विद्यमान वास्तविक गुणों के द्वारा स्तुति
करनेवाले भव्य-पुरुष निःसंदेह आप के ही तुल्य प्रभुता को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें आश्चर्य
करने योग्य कुछ भी नहीं है। क्योंकि जो विश्व के वैभव सम्पन्न श्रीमान हैं यदि वे अपने
आश्रित सेवकों को अपने जैसा सुखी समृद्धिशाली नहीं बना लेते तो उनके धनिक होने
से लाभ ही क्या है?

परम दर्शनीय प्रभु

दृष्ट्वा भवन्त-मनिमेष विलोकनीयं,

नान्यत्र तोष-मुपयाति जनस्य चक्षुः।

पीत्वा पयः शशिकर-द्युति दुग्धसिन्धोः,

क्षारं जलं जलनिधे रसितुं क इच्छेत् ॥11॥

पदच्छेद : दृष्ट्वा भवन्तम् अनिमेष विलोकनीयं, न अन्यत्र तोषम् उपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकर-द्युति दुग्ध-सिन्धोः, क्षारं जलं जलनिधे रसितुं कः इच्छेत्?

अन्वय : अनिमेष विलोकनीयं भवन्तं दृष्ट्वा जनस्य चक्षुः अन्यत्र तोषं न उपयाति। दुग्ध-
सिन्धोः शशिकर-द्युति पयः पीत्वा कः जलनिधेः क्षारं जलं रसितुं इच्छेत्?

शब्दार्थ : अनिमेष - बिना पलक झपकाये, विलोकनीयम् - देखने के योग्य, भवन्तम् -
आपको दृष्ट्वा - देखकर, जनस्य - मनुष्यों के, चक्षुः - नेत्र, अन्यत्र - दूसरी जगह, तोषम्
- संतोष को, न - नहीं, उपयाति - प्राप्त होते हैं। दुग्धसिन्धोः - क्षीर-समुद्र के, शशिकरद्युति
- चन्द्रमा के समान कान्ति वाले, पयः - पानी को, पीत्वा - पीकर, कः - कौन पुरुष,
जलनिधेः - समुद्र के, क्षारम् - खारे, जलम् - जल को, रसितुम् - पीने की, इच्छेत् - इच्छा
रखेगा?

श्लोकार्थ : हे परम दर्शनीय जिनेन्द्र देव! आप इतने अधिक लावण्यमयी हैं कि निरन्तर
बिना पलक झपकाये टकटकी लगाकर दर्शन करने के योग्य हैं। जो पुरुष आपको एकबार
भी अच्छी तरह से देख लेता है वह फिर अन्य किसी देव को देखकर संतुष्ट नहीं होता।
जिसप्रकार चन्द्रमा की शुभ किरणों की कान्ति के समान धवल क्षीरसागर का मधुर जल
पी चुकने के पश्चात् ऐसा कौन पुरुष होगा जो लवण समुद्र के खारे पानी को चखने की
इच्छा करेगा? अर्थात् कोई नहीं।

अद्वितीय सुन्दरता

यैः शान्त राग रुचिभिः परमाणुभिस्-त्वं,
निर्मापितस्-त्रिभुवनैक ललाम भूत!
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समान-मपरं न हि रूप-मस्ति ॥12॥

पदच्छेद : यैः शान्त राग रुचिभिः परमाणुभिः त्वं, निर्मापितः त्रिभुवन एक ललाम-भूत!
तावन्त एव खलु ते अपि अणवः पृथिव्यां, यत् ते समानम् अपरम् न हि रूपम् अस्ति।

अन्वय : त्रिभुवनैक-ललामभूत! त्वं यैः शान्त राग-रुचिभिः परमाणुभिः निर्मापितः।
खलु पृथिव्यां ते अणवः अपि तावन्त एव यत् ते समानम् अपरं रूपं न हि अस्ति।

शब्दार्थ : त्रिभुवनैक-ललामभूत! - हे त्रिभुवन के एक आभूषण! त्वम् - आप, यैः -
जिन, शान्त राग-रुचिभिः - राग रहित उज्ज्वल, परमाणुभिः - परमाणुओं के द्वारा,
निर्मापितः - रचे गये। खलु - निश्चय ही, पृथिव्याम् - पृथ्वी पर, ते - वे, अणवः - अणु,
अपि - भी, तावन्त एव - उतने ही थे, यत् - क्योंकि, ते समानम् - आपके समान, अपरम्
- दूसरा, रूपम् - रूप, न हि - नहीं, अस्ति - है।

श्लोकार्थ : हे त्रिभुवन के एक आभूषण जिनेन्द्र! ऐसा प्रतीत होता है कि जिन राग रहित
उज्ज्वल (शान्त) पुद्गल परमाणुओं से आपके परम औदारिक शरीर की रचना हुई है,
निश्चित ही वे परमाणु पृथ्वी पर उतने ही थे। क्योंकि यदि वे उससे अधिक होते तो आपके
समान रूप दूसरा भी होना चाहिए था, पर आपके समान दूसरा रूप है ही नहीं। इससे
स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे उतने ही थे।

चन्द्रवत् मुख

वक्त्रं क्व ते सुर नरोग नेत्र हारि,
निःशेष निर्जित जगत्-त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलङ्क मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डु पलाश कल्पम् ॥13॥

पदच्छेद : वक्त्रं क्व ते सुर नरः उरग नेत्रहारि, निःशेष निर्जित जगत् त्रितय उपमानम्।
बिम्बं कलङ्क मलिनं क्व निशाकरस्य, यत् वासरे भवति पाण्डु पलाश कल्पम्।

अन्वय : सुर-नरोग नेत्रहारि निःशेष निर्जित जगत्-त्रितयोपमानं ते वक्त्रं क्व? कलङ्क
मलिनं निशाकरस्य बिम्बं क्व? यत् वासरे पलाशकल्पम् पाण्डु भवति।

शब्दार्थ : सुरनरः - देव और मनुष्य तथा, उरग - धरणेन्द्र के, नेत्रहारि - नेत्रों को हरण
करने वाला, निःशेष - सम्पूर्ण रूप से, निर्जित - जीत लिया है, जगत्त्रितय - तीनों लोक
की, उपमानम् - उपमाओं को जिसने ऐसा, ते - आपका, वक्त्रं - मुख, क्व - कहाँ?
कलङ्क-मलिनम् - कलंक से मलिन, निशाकरस्य - चन्द्रमा का, बिम्बम् - मण्डल
(छाया), क्व - कहाँ? यत् - जो, वासरे - दिन में, पलाशकल्पम् - ढाक के पत्ते की तरह,
पाण्डु - फीका, भवति - हो जाता है।

श्लोकार्थ : हे नाथ! जिसने देव मनुष्य और धरणेन्द्रों के नेत्रों का हरण कर लिया है और
जिसके आगे तीनों लोक के सारे उपमान फीके पड़ गये हैं ऐसे आपके अद्वितीय मुख-
मण्डल की तुलना चन्द्र-मण्डल से नहीं की जा सकती, क्योंकि एक तो चन्द्रमा कलंकी
है; दूसरा वह दिन में ढाक के जीर्ण पत्ते की भाँति निस्तेज, पीला और फीका पड़ जाता
है।

लोकव्यापी गुण

सम्पूर्ण मण्डल शशाङ्क कला कलाप,
शुभ्रा गुणास्-त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रितास्-त्रिजगदीश्वर नाथ-मेकं,
कस्तान्-निवारयति सञ्चरतो यथेष्टम् ॥14॥

पदच्छेद : सम्पूर्ण मण्डल-शशाङ्क कला कलाप, शुभ्रा गुणाः त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रिताः त्रि-जगदीश्वर नाथं एकं, कः तान् निवारयति सञ्चरतः यथा इष्टम्।

अन्वय : सम्पूर्ण मण्डल शशाङ्क कला कलाप शुभ्रा तव गुणाः त्रिभुवनं लङ्घयन्ति।
ये एकं त्रिजगदीश्वर नाथं संश्रिताः तान् यथेष्टम् सञ्चरतः कः निवारयति।

शब्दार्थ : सम्पूर्ण - सम्पूर्ण, मण्डल-शशाङ्क - चन्द्र बिम्ब की, कला-कलाप -
कलाओं के समूह के समान, शुभ्रा - स्वच्छ, तव - आपके, गुणाः - गुण, त्रिभुवनम् -
तीनों लोकों को, लङ्घयन्ति - लाँघ रहे हैं / सब जगह फैलें हुये हैं। ये - जो, एकम् - एक
मात्र, त्रिजगदीश्वर-नाथम् - तीन लोक के स्वामी के, संश्रिताः - आश्रित हैं, तान् - उन्हें,
यथेष्टम् - इच्छानुसार, सञ्चरतः - घूमते हुए, कः - कौन, निवारयति - रोकता है? अर्थात्
कोई नहीं।

श्लोकार्थ : हे तीनों लोक के स्वामी! जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा की कलाएँ सर्वत्र व्याप्त हो
जाती हैं उसी प्रकार आपके ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुण तीनों लोकों में व्याप्त हो रहे हैं।
कारण स्पष्ट है कि आपके उन गुणों ने जब तीनों लोकों के नाथ का एकमात्र सहारा ले
लिया हो, तब उन्हें सर्वत्र स्वेच्छा पूर्वक विचरण करने से भला कौन रोक सकता है?
अर्थात् कोई नहीं। वे आपके अनंत गुण तीनों लोकों में व्याप्त होकर आप की ही प्रभावना
कर रहे हैं।

अचलमेरु सी थिरता

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्ग नाभिर्-
नीतं मनागपि मनो न विकार मार्गम्।
कल्पान्त काल मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि शिखरं चलितं कदाचित् ॥15॥

पदच्छेद : चित्रं किम्-अत्र यदि ते त्रि-दशाङ्ग नाभिः, नीतं मनाक् अपि मनः न विकार मार्गम्। कल्पान्त-काल मरुता चलिता-अचलेन, किं मन्दर-आद्रि शिखरं चलितं कदाचित्।

अन्वय : यदि ते मनः त्रि-दशाङ्ग-नाभिः मनाक् अपि विकार मार्गं न नीतम् अत्र चित्रं किम्? चलिताचलेन कल्पान्त-काल मरुता किं कदाचित् मन्दराद्रि शिखरं चलितम्?

शब्दार्थ : यदि - यदि, ते - आपका, मनः - मन, त्रिदशाङ्ग-नाभिः - देवांगनाओं के द्वारा, मनाक्-अपि - थोड़ा भी, विकारमार्गम् - विकार भाव को, न नीतम् - प्राप्त नहीं कराया जा सका, अत्र - इसमें, चित्रम् - आश्चर्य, किम् - क्या है?, चलिताचलेन - पहाड़ों को हिला देनेवाली, कल्पान्त-काल - प्रलयकाल की, मरुता - पवन के द्वारा, किम् - क्या, कदाचित् - कभी, मन्दराद्रि - सुमेरु पर्वत का, शिखरम् - शिखर, चलितम् - हिलाया गया है? अर्थात् नहीं।

श्लोकार्थ : हे तपोधन! यदि आपके ध्यान (मन) को स्वर्ग की लावण्यमयी अनुपम अप्सरायें भी किंचित् चलायमान (विकारग्रस्त) करने में समर्थ नहीं हो सकी, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? क्योंकि प्रलयकाल की तेज आँधी भी छोटे-मोटे पर्वतों को भले कम्पायमान कर दे परन्तु क्या सुमेरु जैसे विशालकाय पर्वत की चोटी को भी चलायमान करने की शक्ति उसमें है? अर्थात् कभी नहीं।

अनोखे दीपक

निर्धूम वर्ति-रपवर्जित तैल-पूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रय-मिदं प्रकटी करोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिता-चलानां,
दीपोऽपरस्त्व-मसि नाथ! जगत्प्रकाशः ॥16॥

पदच्छेद : निर्धूम-वर्तिः अपवर्जित तैलपूरः, कृत्स्नं जगत् त्रयम् इदं प्रकटी करोषि। गम्यः न जातु मरुतां चलित-अचलानाम्, दीपः अपरः त्वम् असि नाथ! जगत् प्रकाशः।

अन्वय : नाथ! निर्धूमवर्तिः अपवर्जित तैलपूरः इदं कृत्स्नं जगत्त्रयं प्रकटी करोषि। चलिताचलानां मरुतां जातु न गम्यः त्वं जगत्प्रकाशः अपरः दीपः असि।

शब्दार्थ : नाथ! - हे स्वामी! आप, निर्धूमवर्तिः - धुआँ और बत्ती से रहित, अपवर्जित-तैलपूरः - तैल की पूर्णता से रहित इदम् - इस, कृत्स्नम् - समस्त, जगत्त्रयम् - तीन लोक को, प्रकटी करोषि - प्रकाशित कर रहे हो। चलिताचलानाम् - पहाड़ों को हिला देने वाली, मरुताम् - वायु के भी, जातु - कभी, न गम्यः - गम्य नहीं हो, ऐसे त्वम् - आप, जगत्प्रकाशः - संसार को प्रकाशित करने वाले, अपरः दीपः - अपूर्व दीपक, असि - हो।

श्लोकार्थ : हे नाथ! आप समस्त संसार को प्रकाशित करनेवाले अपूर्व दीपक हैं, क्योंकि अन्य दीपक तेल की सहायता से प्रकाश फैलाते हैं। पर आप बिना किसी की सहायता के प्रकाश (ज्ञान) फैलाते हैं। अन्य दीपकों की बत्ती से धुआँ निकलता है पर आपकी वर्ति (मार्ग) निर्धूम पाप रहित हैं। अन्य दीपक हवा से नष्ट हो जाते हैं परन्तु आप अविनाशी हैं। तथा अन्य दीपक थोड़ी सी जगह को ही प्रकाशित करते हैं, परन्तु आप तीनों लोक के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। इसप्रकार आप इस लौकिक दीपक से सर्वथा भिन्न एक अलौकिक (स्व-पर प्रकाशक) दीपक हैं।

सूर्य से अधिक महिमावन्त
नास्तं कदाचिदु-पयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टी करोषि सहसा युगपज्-जगन्ति।
नाम्भो धरोदर निरुद्ध महाप्रभावः,
सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥17॥

पदच्छेद : न अस्तं कदाचित् उपयासि न राहुगम्यः, स्पष्टी-करोषि सहसा युगपत् जगन्ति।
न अम्भोधर उदर निरुद्ध महाप्रभावः, सूर्य अतिशायि महिमा असि मुनीन्द्र! लोके।

अन्वय : मुनीन्द्र! कदाचित् न अस्तम् उपयासि, न राहुगम्यः, न अम्भोधर-उदर निरुद्ध-
महाप्रभावः। युगपत् जगन्ति सहसा स्पष्टी करोषि, लोके सूर्यातिशायि महिमा असि।

शब्दार्थ : मुनीन्द्र! - हे मुनियों के इन्द्र! आप, कदाचित् - कभी, न अस्तम् - न अस्त
दशा को, उपयासि - प्राप्त होते हो, न राहुगम्यः - राहु के द्वारा ग्रसे जाते हो, न अम्भोधर-
उदर - न मेघों के द्वारा, निरुद्ध-महाप्रभावः - महान् तेजशाली प्रभाव निरुद्ध होता है।
युगपत् - एकसाथ, जगन्ति - तीनों लोकों को, सहसा - शीघ्र ही, स्पष्टीकरोषि - प्रकाशित
करते हो, लोके - इस संसार में, सूर्यातिशायि - सूर्य से अधिक, महिमासि - महिमा वाले
हो।

श्लोकार्थ : हे मुनीन्द्र! आपकी उपमा सूर्य से भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि सूर्य उदय
होकर अस्त को प्राप्त हो जाता है, राहु ग्रह के द्वारा ग्रसित कर लिया जाता है, उसका
प्रताप मेघ द्वारा ढक लिया जाता है, जिससे वह गुफाओं-कंदराओं को प्रकाशित नहीं
कर पाता, परन्तु आप ऐसे अद्वितीय मार्तण्ड हो जिनके क्षायिक ज्ञान का न कभी अस्त
होता है, न उसे कोई राहु ग्रसित कर सकता है, न कोई आवरण उसे ढक सकता है, तथा
जो तीनों लोकों के सम्पूर्ण पदार्थों को एकसाथ प्रकाशित करता रहता है, इस प्रकार
आपकी महिमा सूर्य से भी अधिक अतिशय वाली है।

अद्भुत मुखचन्द्र

नित्योदयं दलित मोह महान्धकारं,
गम्यं न राहु वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्ज-मनल्पकान्ति,
विद्योतयत्-जगदपूर्व शशाङ्क-बिम्बम् ॥18॥

पदच्छेद : नित्य उदयं दलित मोह महा-अन्धकारं, गम्यं न राहु-वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जम् अनल्प कान्ति, विद्योतयत् जगत् अपूर्व शशाङ्क-बिम्बम्।

अन्वय : नित्योदयं दलित मोह महान्धकारं न राहुवदनस्य न वारिदानां गम्यम्।
अनल्पकान्ति जगत् विद्योतयत् तव मुखाब्जम् अपूर्व शशाङ्क-बिम्बं विभ्राजते।

शब्दार्थ : नित्योदयम् - नित्य उदित रहने वाला, दलित मोह-महान्धकारम् - मोहरूपी
अन्धकार को नष्ट करने वाला, राहुवदनस्य न गम्यम् - राहु के मुख द्वारा ग्रसे जाने के
अयोग्य हो। वारिदानां न गम्यम् - मेघों के द्वारा छिपाने के अयोग्य, अनल्पकान्ति -
अधिक कान्तिवाला, जगत् - संसार को, विद्योतयत् - प्रकाशित करनेवाला, तव -
आपका, मुखाब्जम् - मुखकमल, अपूर्व शशाङ्क-बिम्बम् - अपूर्व चन्द्रमण्डल की तरह,
विभ्राजते - शोभित होता है।

श्लोकार्थ : हे जिनेन्द्र! आपका मुखकमल चन्द्रमा से भी अधिक विलक्षण है। क्योंकि
चन्द्रमा तो केवल रात्रि में ही उदित होता है, पर आपका मुखचन्द्र सदा ही उदित रहता
है। चन्द्रमा सिर्फ साधारण अंधकार को नष्ट करता है, पर आपका मुखचन्द्र मोहरूपी
अंधकार को भी नष्ट कर देता है। चन्द्रमा को राहु ग्रस लेता है, बादल अपनी ओट में
छिपा लेते हैं, पर आपको ग्रसनेवाला ढकनेवाला कोई भी नहीं है। चन्द्रमा मात्र मध्यलोक
को ही प्रकाशित करता है पर आपका मुखचन्द्र तीनों लोकों को प्रकाशित करता है।
चन्द्रमा की कान्ति तो कृष्णपक्ष में घट जाती है, पर आपके मुखचन्द्र की कान्ति सदा
समान रूप से देदीप्यमान रहती है।

निष्प्रयोज्य सूर्य-चन्द्र

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्-मुखेन्दु दलितेषु तमःसु नाथ!
निष्पन्न शालिवन शालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जल-धरैर्-जलभार नम्रैः ॥19॥

पदच्छेद : किं शर्वरीषु शशिना-अह्नि विवस्वता वा, युष्मन् मुखेन्दु दलितेषु, तमःसु नाथ! निष्पन्न शालिवन शालिनि जीवलोके, कार्यं कियत् जलधरैः जलभार नम्रैः।

अन्वय : नाथ! तमःसु युष्मन्मुखेन्दु दलितेषु शर्वरीषु शशिना वा अह्नि विवस्वता किम्? निष्पन्न शालिवन शालिनि जीवलोके जलभारनम्रैः जलधरैः कियत् कार्यम्।

शब्दार्थ : नाथ! - हे स्वामी!, तमःसु - अंधकार के, युष्मन्मुखेन्दु - आपके मुखचन्द्र द्वारा, दलितेषु - नष्ट हो जाने पर, शर्वरीषु - रात में, शशिना - चन्द्रमा से, वा - अथवा, अह्नि - दिन में, विवस्वता - सूर्य से, किम् - क्या प्रयोजन है?, निष्पन्न - पके हुये, शालिवन - धान्य के खेतों से, शालिनि - शोभायमान, जीवलोके - संसार में, जलभारनम्रैः - जल के भार से झुके हुये, जलधरैः - मेघों से, कियत् - कितना, कार्यम् - कार्य रह जाता है।

श्लोकार्थ : हे स्वामी! जिस प्रकार धान्य (धान) की फसल पक जाने पर वर्षा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, वहाँ बादलों का बरसना व्यर्थ व हानिप्रद होता है। उसी प्रकार जहाँ आपके मुखरूपी चन्द्रमा से अज्ञानरूपी अंधकार का नाश हो चुका है, वहाँ दिन में सूर्य की और रात में चन्द्रमा की क्या आवश्यकता रह जाती है?

ज्ञान का प्रभाव

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरि-हरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्वं,
नैवं तु काच-शकले किरणाकुलेऽपि ॥20॥

पदच्छेद : ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृत-अवकाशं, न एवं तथा हरि-हर आदिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन् मणिषु याति यथा महत्वं, न एवं तु काच-शकले किरण आकुले अपि।

अन्वय : कृतावकाशं ज्ञानं यथा त्वयि विभाति, एवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ना। तेजः
स्फुरन्मणिषु यथा महत्वं याति, तु एवं किरणाकुले अपि काचशकले ना।

शब्दार्थ : कृतावकाशम् - अवकाश को प्राप्त, ज्ञानम् - ज्ञान, यथा - जिस प्रकार, त्वयि
- आप में, विभाति - शोभायमान होता है, एवं तथा - उस प्रकार, हरिहरादिषु - विष्णु,
शंकर आदि, नायकेषु - देवों में, न - नहीं होता। तेजः - तेज, स्फुरन्मणिषु - चमकते हुए
मणियों में, यथा - जिस प्रकार, महत्त्वम् - महत्व को, याति - प्राप्त होता है, तु - निश्चय
से, एवं - उस प्रकार, किरणाकुले - किरणों से व्याप्त, काचशकले - काँच के टुकड़े में,
अपि - भी, न - नहीं होता।

श्लोकार्थ : महारत्नों में जैसा तेज होता है वैसा तेज काँच के टुकड़े में सूर्य की तेज किरणों
को ग्रहण पर भी नहीं होता है, इसी प्रकार लोकालोक को जानने वाला निर्मल जैसे आप
में शोभा को प्राप्त होता है, वैसा ब्रम्हा, विष्णु, महादेव आदि अन्य देवों में नहीं होता।
अर्थात् जैसा स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान आप में है वैसा स्व-पर प्रकाशक ज्ञान अन्य देवों में
नहीं पाया जाता है।

अन्त में पाया सो ठीक

मन्ये वरं हरि-हरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि ॥21॥

पदच्छेद : मन्ये वरं हरि-हरादयः एव दृष्टा, दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषम् एति। किं वीक्षितेन भवता भुवि येन न अन्यः, कश्चित् मनः हरति नाथ भवान्तरे अपि।

अन्वय : नाथ! मन्ये दृष्टा हरि-हरादयः एव वरं येषु दृष्टेषु हृदयं त्वयि तोषम् एति। वीक्षितेन भवता किं येन भुवि अन्यः कश्चित् भवान्तरे अपि मनः न हरति।

शब्दार्थ : नाथ! - हे स्वामी!, मन्ये - मैं मानता हूँ कि, दृष्टा - देखे गये, हरि-हरादय - विष्णु, महादेव आदि देव, एव - ही, वरम् - अच्छे हैं, येषु - जिनके, दृष्टेषु - देखे जाने पर, हृदयम् - मन, त्वयि - आपके विषय में, तोषम् - संतोष को, एति - प्राप्त होता है। वीक्षितेन - देखने से, भवता - आपको, किम् - क्या प्रयोजन है? येन - जिससे, भुवि - पृथ्वी पर, अन्यः कश्चित् - कोई दूसरा देव, भवान्तरे - दूसरे भव में, अपि - भी, मनः - चित्त को, न हरति - नहीं हर पाता।

श्लोकार्थ : हे स्वामी! मैं इस बात को अच्छा मानता हूँ कि मैंने अन्य देवों को पहले देख लिया, उन्हें देखने के बाद आपके वीतराग रूप को देखा तो चित्त आपमें ही परम संतोष को प्राप्त हो गया। अब अन्य देवों को देखने का कोई प्रयोजन नहीं रहा। आपकी वीतरागता देखने के बाद अब तो अन्य जन्मों में भी मेरा मन अन्यत्र संतुष्ट नहीं हो सकता, वह केवल आपके (वीतराग के) दर्शन से ही संतुष्ट, तृप्त होगा।

आपकी माँ धन्य हैं

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,

नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।

सर्वाः दिशो दधति भानि सहस्र-रश्मिं,

प्राच्येव दिग् जनयति स्फुर-दंशुजालम् ॥22॥

पदच्छेद : स्त्रीणां शतानि शतशः जनयन्ति पुत्रान्, न अन्या सुतं त्वत्-उपमं जननी प्रसूता।
सर्वाः दिशः दधति भानि सहस्र-रश्मिं, प्राची एव दिक् जनयति स्फुरत् अंशुजालम्।

अन्वय : स्त्रीणां शतानि शतशः पुत्रान् जनयन्ति, त्वदुपमं सुतं अन्या जननी न प्रसूता।
भानि सर्वा दिशः दधति, स्फुर-दंशुजालं सहस्ररश्मिं प्राच्येव दिक् जनयति।

शब्दार्थ : स्त्रीणां शतानि - सैकड़ों स्त्रियाँ, शतशः - सैकड़ों, पुत्रान् - पुत्रों को, जनयन्ति
- जन्म देती हैं परन्तु, त्वदुपम् - आप जैसे, सुतम् - पुत्र को, अन्या - दूसरी, जननी - माँ,
न प्रसूता - जन्म नहीं दे सकी। भानी - नक्षत्रों को, सर्वाः दिशः - सब दिशाएँ, दधति -
धारण करती हैं परन्तु, स्फुर-दंशुजालम् - चमक रहा है किरणों का समूह जिसका ऐसे,
सहस्ररश्मिम् - सूर्य को, प्राच्येव दिक् - पूर्व दिशा ही, जनयति - प्रकट करती है।

श्लोकार्थ : हे जिनेन्द्र! इस जगतीतल में कोटि-कोटि माताएँ हुई हैं जिन्होंने समय-समय
पर सैकड़ों पुत्रों को जन्म दिया है। किन्तु इस लोक में आप जैसे अद्वितीय पुत्र को जन्म
देने वाली अन्य माता आज तक दृष्टिगोचर ही नहीं हुई।

यह सत्य है कि दीप्तिमान किरण समूहवा ले सूर्य को जन्म देने वाली तो केवल एक
पूर्व दिशा ही है। शेष दिशाएँ तो टिमटिमाते नक्षत्रों को ही जन्म दिया करती हैं। फिर सूर्य
से भी अधिक तेजस्वी आप जैसे अनुपमेय पुत्र को जन्म देनेवाली माता भी एक ही हो
सकती है, अनेक नहीं।

मोक्षमार्ग प्रणेता

त्वामा-मनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्य वर्ण-ममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्य-गुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥23॥

पदच्छेद : त्वाम् आमनन्ति मुनयः परमं पुमांसम्, आदित्य वर्णम् अमलं तमसः पुरस्तात्।
त्वाम् एव सम्यक् उपलभ्य जयन्ति मृत्युं, न अन्यः शिवः शिव-पदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः।

अन्वय : मुनीन्द्र! मुनयः त्वाम् आदित्यवर्णम् अमलं, तमसः पुरस्तात् परमं पुमांसम्
आमनन्ति। त्वाम् एव सम्यक् उपलभ्य मृत्युं जयन्ति, शिवपदस्य अन्यः शिवः पन्थाः न।

शब्दार्थ : मुनीन्द्र! - हे मुनियों के नाथ!, मुनयः - तपस्वीजन, त्वाम् - आपको,
आदित्यवर्णम् - सूर्य की तरह तेजस्वी, अमलम् - निर्मल, तमसः - मोह अंधकार से,
पुरस्तात् - दूर रहनेवाले, परमं पुमांसम् - पुरुषों में श्रेष्ठ, आमनन्ति - मानते हैं। त्वाम् एव
- आपको ही, सम्यक् - अच्छी तरह से, उपलभ्य - प्राप्त कर, मृत्युम् - मरण को, जयन्ति
- जीत लेते हैं, शिवपदस्य - मोक्षपद का, अन्यः - दूसरा, शिव - अच्छा, पन्थाः - रास्ता,
मार्ग, न - नहीं है।

श्लोकार्थ : हे मुनीन्द्र! साधु-मुनियों के समूह आपको परम-पुरुष मानते हैं क्योंकि आप
राग-द्वेष रूपी मल से रहित होने से निर्मल हैं, मोह रूपी अंधकार का नाश करने वाले
होने से सूर्य के समान हैं। आपको प्राप्त कर (आपके बताये मार्ग पर चलकर) जन्म-मरण
पर विजय प्राप्त कर लेते हैं इसलिए आपको मृत्युंजय मानते हैं। मोक्ष का आपके अतिरिक्त
अन्य कोई कल्याणकारी निरूपद्रव मार्ग नहीं है इस कारण वे आपको ही मोक्ष का मार्ग
मानते हैं।

विभिन्न नाम आपके ही

त्वा-मव्ययं विभु-मचिन्त्य-मसंख्य-माद्यं,
ब्रह्माण-मीश्वर-मनन्त-मनंग केतुम्।
योगीश्वरं विदित योग-मनेक-मेकं,
ज्ञान स्वरूप-ममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥24॥

अन्वय : सन्तः त्वाम् अव्ययं विभुम् अचिन्त्यम् असंख्यम् आद्यम्, ब्रह्माणम् ईश्वरम् अनन्तम् अनंग-केतुम्, योगीश्वरं विदित-योगम् अनेकम् एकम्, ज्ञान-स्वरूपम् अमलम् प्रवदन्ति।

शब्दार्थ : सन्तः - सज्जन पुरुष त्वाम् - आपको, अव्ययम् - अविनाशी, विभुम् - व्यापक, अचिन्त्यम् - चिन्तन के अयोग्य, असंख्यम् - गणना रहित, आद्यम् - प्रथम (आदि), ब्रह्माणम् - ब्रह्मा, ईश्वरम् - ईश्वर, अनन्तम् - अनन्त, अनंगकेतुम् - कामजयी, योगीश्वरम् - योगियों में श्रेष्ठ, विदित-योगम् - योग के ज्ञाता, अनेकम् - अनेक, एकम् - एक, ज्ञानस्वरूपम् - ज्ञानस्वरूप, अमलम् - निर्मल, प्रवदन्ति - कहते हैं।

श्लोकार्थ : भगवन्! सत्पुरुष आपको आत्मा का कभी नाश नहीं होता, इसलिए 'अव्यय'। केवलज्ञान तीनों लोकों में फैला हुआ है, इसलिए 'विभु'। स्वरूप का कोई चिन्तन नहीं कर सकता, इसलिए 'अचिन्त्य'। गुणों की गणना नहीं हो सकती, इसलिए 'असंख्य'। युग के आदि में हुये हैं, इसलिए 'आद्य'। अनन्त गुणों से बढ़े हुये हैं, इसलिए 'ब्रह्मा'। कृतकृत्य हो गये, इसलिए 'ईश्वर'। सामान्य स्वरूप की अपेक्षा अन्त रहित हैं, इसलिए 'अनन्त'। काम को नष्ट करने के लिए केतुग्रह के समान हैं, इसलिए 'अनंगकेतु'। योगी-मुनियों के स्वामी हैं, इसलिए 'योगीश्वर'। योग, ध्यान आदि के ज्ञाता हैं, इसलिए 'विदितयोग'। पर्यायों की अपेक्षा अनेक रूप हैं, इसलिए 'अनेक'। सामान्य स्वरूप की अपेक्षा एक हैं, इसलिए 'एक'। केवलज्ञानरूप हैं, इसलिए 'ज्ञानस्वरूप' तथा कर्ममल से रहित है, इसलिए 'अमल' कहते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, बुद्ध आप ही
बुद्धस्-त्वमेव विबुधार्चित बुद्धि बोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवन-त्रय शङ्करत्वात्।
धाताऽसि धीर! शिवमार्ग विधेर्-विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ॥25॥

पदच्छेद : बुद्धः त्वम् एव विबुध अर्चित बुद्धि बोधात्, त्वं शङ्करः असि भुवन-त्रय शङ्करत्वात्। धाता असि धीर! शिवमार्ग विधेः विधानात्, व्यक्तं त्वम् एव भगवन्! पुरुषोत्तमः असि।

अन्वय : विबुधार्चित बुद्धिबोधात् त्वम् एव बुद्धः, भुवनत्रय शङ्करत्वात् त्वम् एव शङ्करः असि। धीर! शिवमार्गविधेः विधानात् त्वम् एव धातासि, भगवन्! त्वम् एव व्यक्तं पुरुषोत्तमः असि।

शब्दार्थ : विबुधार्चित - देव अथवा विद्वान के द्वारा पूजित, बुद्धिबोधात् - ज्ञान वाले होने से, त्वम् एव - आप ही, बुद्धः - बुद्ध हो, भुवनत्रय - तीनों लोकों में, शंकरत्वात् - मंगल (शान्ति) करने वाले होने से, त्वम् एव - आप ही, शङ्करः - शंकर, असि - हो। धीर! - हे धीर!, शिवमार्गविधेः - मोक्ष मार्ग की विधि के, विधानात् - करने (बताने) वाले होने से, त्वम् एव - आप ही, धातासि - ब्रह्मा हो, भगवन्! - हे भगवान्!, त्वम् एव - आप ही, व्यक्तम् - स्पष्ट रूप से, पुरुषोत्तमः - उत्तम पुरुष अर्थात् विष्णु (नारायण), असि - हो।

श्लोकार्थ : हे देवाधिदेव! केवलज्ञान सहित होने से, गणधरों व ज्ञानियों द्वारा पूजित होने से आप ही 'बुद्ध' हैं। तीनों लोकों के सुख या शान्ति के करने वाले होने से आप ही 'शंकर' हैं। आपने ही रत्नत्रय रूप धर्म का उपदेश देकर मोक्षमार्ग का निष्पादन किया है, अतः आप ही सच्चे 'ब्रह्मा' है। इसी तरह आपने अपनी पर्याय में सर्वोत्कृष्ट पुरुषत्व व्यक्त कर लिया है इसलिए आप ही 'पुरुषोत्तम' हैं।

आपको नमस्कार हो

तुभ्यं नमस्-त्रिभुवनार्ति हराय नाथ!

तुभ्यं नमः क्षिति तलामल भूषणाय।

तुभ्यं नमस्-त्रिजगतः परमेश्वराय,

तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि शोषणाय ॥26॥

पदच्छेद : तुभ्यं नमः त्रिभुवन-आर्ति हराय नाथ!, तुभ्यं नमः क्षिति तल अमल भूषणाय।
तुभ्यं नमः त्रिजगतः परमेश्वराय, तुभ्यं नमः जिन! भवोदधि शोषणाय।

अन्वय : नाथ! त्रिभुवनार्ति हराय तुभ्यं नमः, क्षितितल अमल भूषणाय तुभ्यं नमः।
त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमः, जिन! भवोदधि शोषणाय तुभ्यं नमः।

शब्दार्थ : नाथ! - हे स्वामी! त्रिभुवन - तीनों लोकों के, आर्ति - दुःखों को, हराय - हरने वाले, तुभ्यम् - आपको, नमः - नमस्कार हो, क्षितितल पृथ्वी तल के, अमल - निर्मल, भूषणाय - आभूषण स्वरूप, तुभ्यम् - आपको, नमः - नमस्कार हो। त्रिजगतः - तीनों जगत के, परमेश्वराय - परमेश्वर स्वरूप, तुभ्यम् - आपको, नमः - नमस्कार हो, जिन! - हे जिनेन्द्र देव!, भवोदधि - संसार समुद्र के, शोषणाय - सुखाने (नष्ट करने) वाले, तुभ्यम् - आपको, नमः - नमस्कार हो।

श्लोकार्थ : हे स्वामी! आप तीनों लोकों के दुःखों को हरने वाले हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। आप पृथ्वी तल के निर्मल आभूषण स्वरूप हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। आप ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक तथा अधोलोक तीनों के परमेश्वर स्वरूप हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। हे जिनेन्द्र देव! आप ही संसार रूपी समुद्र के सुखाने (नष्ट करने) वाले हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो।

दोष रहित गुणों के स्वामी
को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणै-रशेषैस्-
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश!
दोषै-रुपात्त विविधाश्रय जात गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिद-पीक्षितोऽसि ॥27॥

पदच्छेद : कः विस्मयः अत्र यदि नाम गुणैः अशेषैः, त्वं संश्रितः निः अवकाशतया मुनीश! दोषैः उपात्त विविध आश्रय जात गर्वैः, स्वप्न अन्तरे अपि न कदाचित् अपि ईक्षितः असि।

अन्वय : मुनीश! यदि नाम निरवकाशतया त्वम् अशेषैः गुणैः संश्रितः उपात्त विविधाश्रय जातगर्वैः दोषैः स्वप्नान्तरे अपि कदाचित् न ईक्षितः असि अत्र कः विस्मयः?

शब्दार्थ : मुनीश! - हे मुनियों के स्वामी! **यदि नाम** - यदि, **निरवकाशतया** - अन्य जगह स्थान न मिलने से, **त्वम्** - आप, **अशेषैः** - समस्त, **गुणैः** - गुणों के द्वारा, **संश्रितः** - आश्रय को, **उपात्त** - प्राप्त हुए। **विविधाश्रय** - अनेक आश्रय मिलने से, **जातगर्वैः** - उत्पन्न हुआ है अहंकार जिनको ऐसे, **दोषैः** - दोषों के द्वारा, **स्वप्न** - स्वप्न के, **अन्तरे** - मध्य में, **अपि** - भी, **कदाचित्** - कभी, **अपि** - भी, **न ईक्षितः** - नहीं देखे गये, **असि** - हो, **अत्र** - इसमें, **कः** - क्या, **विस्मयः** - आश्चर्य हैं?

श्लोकार्थ : हे मुनियों के स्वामी! संसार में जितने गुण थे उन सबने आप में इस सघनता से निवास कर लिया कि फिर कुछ भी अवकाश (स्थान) शेष नहीं रहा। जिससे दोषों को आपमें बिल्कुल भी स्थान नहीं मिला। वे दोष-दुर्गुण अन्यत्र चले गये, अन्यत्र आश्रय मिल जाने के गर्व से वे दुर्गुण पुनः लौटकर स्वप्न में भी आपकी ओर नहीं आये। अर्थात् संसार के समस्त गुण आपमें विद्यमान हैं, दुर्गुण एक भी नहीं है तो इसमें क्या आश्चर्य है?

प्रथम प्रातिहार्य - अशोक वृक्ष
उच्चै-रशोक तरु संश्रित-मुन्मयूख-
माभाति रूप-ममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत् किरण-मस्त तमो-वितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति ॥28॥

पदच्छेद : उच्चैः अशोक तरु संश्रितम् उन्मयूखम्, आभाति रूपम् अमलम् भवतः नितान्तम्। स्पष्ट उल्लसत् किरणम् अस्त तमः वितानं, बिम्बं रवेः इव पयोधर पार्श्ववर्ति।

अन्वय : उच्चैः अशोकतरु संश्रितम् उन्मयूखं भवतः अमलं रूपं स्पष्टोल्लसत्। किरणम् अस्त तमोवितानं पयोधर-पार्श्ववर्ति रवेः बिम्बम् इव नितान्तम् आभाति।

शब्दार्थ : उच्चैः - ऊँचे, अशोकतरु - अशोक वृक्ष के, संश्रितम् - नीचे स्थित, उन्मयूखम् - जिसकी किरणें ऊपर को फैल रही हैं ऐसा, भवतः - आपका, अमलम् - उज्ज्वल, रूपम् - रूप, स्पष्टोल्लसत् - स्पष्ट रूप से शोभायमान है। किरणम् - किरणें, अस्त - नष्ट कर दिया है, तमोवितानम् - अंधकार का समूह जिसने, पयोधर - मेघ के, पार्श्ववर्ति - पास में स्थित, रवेः बिम्बम् इव - सूर्य के बिम्ब की तरह, नितान्तम् - अत्यंत, आभाति - शोभित होता है।

श्लोकार्थ : हे प्रभो! जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब अपनी किरणों को स्पष्ट रूप से ऊपर फेंकता हुआ श्याममल सघन बादलों के बीच में शोभायमान होता है, उसी प्रकार आपकी पावन दिव्य देह भी अपनी दैदीप्यमान किरणों को ऊपर की ओर बिखेरती हुई समवसरण में हरित अशोक वृक्ष के नीचे अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रही है।

द्वितीय प्रातिहार्य – सिंहासन
सिंहासने मणि-मयूख शिखा विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनका-वदातम्।
बिम्बं वियद्-विलस-दंशुलता वितानं,
तुङ्गोदयाद्रि शिरसीव सहस्र-रश्मेः ॥29॥

पदच्छेद : सिंहासने मणि मयूख शिखा विचित्रे, विभ्राजते तव वपुः कनक अवदातम्।
बिम्बं वियत् विलसत् अंशु लता वितानं, तुङ्ग-उदय-आद्रि शिरसि इव सहस्र रश्मेः।

अन्वय : मणि-मयूख शिखा विचित्रे सिंहासने तव कनकावदातम् वपुः तुङ्गोदयाद्रि
शिरसि वियत्-विलसत्। अंशु-लता वितानं सहस्र रश्मेः बिम्बं इव विभ्राजते।

शब्दार्थ : मणि-मयूख - रत्नों की किरणों के, शिखा - अग्रभाग से, विचित्रे - चित्र
विचित्र, सिंहासने - सिंहासन पर, तव - आपका, कनकावदातम् - सुवर्ण की तरह
उज्ज्वल, वपुः - शरीर, तुङ्गोदयाद्रि - ऊँचे उदयाचल के, शिरसि - शिखर पर, वियत्
- आकाश में, विलसत् - शोभायमान हैं। अंशु-लता वितानम् - किरण रूपी लताओं का
समूह है जिसके ऐसे, सहस्ररश्मेः - सूर्य के, बिम्बम् - बिम्ब की, इव - तरह, विभ्राजते -
शोभायमान हो रहा है।

श्लोकार्थ : हे प्रभो! जिस प्रकार ऊँचे उदयगिरि पर्वत की चोटी पर उगता हुआ सूर्य चारों
ओर फैली अपनी स्वर्णिम किरणों से आकाश में अत्यंत शोभायमान होता है। उसी प्रकार
आपका स्वर्ण के समान उज्ज्वल शरीर भी उस रत्नजडित सिंहासन पर अत्यधिक
शोभायमान हो रहा है, जो मणियों की किरणों के अग्रभाग से विविध रंगों से चित्र-विचित्र
हो रहा है।

तृतीय प्रातिहार्य – चँवर

कुन्दावदात चल-चामर चारु शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत कान्तम्।
उद्यत्-शशाङ्क शुचि-निर्झर वारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरे-रिव शातकौम्भम् ॥30॥

पदच्छेद : कुन्द अवदात चल चामर चारु शोभं, विभ्राजते तव वपुः कलधौत कान्तम्।
उद्यत्-शशाङ्क शुचि निर्झर वारिधारम्, उच्चैः तटं सुर-गिरेः इव शातकौम्भम्।

अन्वय : कुन्दावदात चल-चामर चारु शोभं कलधौत कान्तं तव वपुः उद्यच्छशाङ्क
शुचि निर्झर वारिधारं सुरगिरेः शातकौम्भम् उच्चैस्तटं इव विभ्राजते।

शब्दार्थ : कुन्दावदात - कुन्द के पुष्प के समान स्वच्छ, चल-चामर - हिलते हुये चँवरों
की, चारु - सुन्दर, शोभम् - शोभा से युक्त, कलधौत - स्वर्ण के समान, कान्तम् - चमक
वाला तव - आपका, वपुः - शरीर, उद्यच्छशाङ्क - उदीयमान चन्द्रमा के समान, शुचि
- पवित्र (निर्मल), निर्झर - झरनों की, वारिधारम् - जल की धारा से युक्त, सुरगिरेः -
सुमेरुपर्वत के, शातकौम्भम् - स्वर्णमयी, उच्चैस्तटम् - ऊँचे तट की इव - समान,
विभ्राजते - शोभायमान होता है।

श्लोकार्थ : हे प्रभो! समवशरण में स्वर्णिम कान्ति वाली आपकी दिव्य देह उन कुन्द
पुष्प के समान श्वेत (धवल) और दोनों ओर दुरते हुये चँवरों के बीच में वैसी ही सुंदर
प्रतीत होती है, जैसे स्वर्णगिरि (सुमेरु पर्वत) के ऊपर दोनों ओर से उदीयमान चन्द्रमा की
किरणों के समान उज्ज्वल जल-प्रपात की गिरती हुई धवल धारा हो।

चतुर्थ प्रातिहार्य – छत्रत्रय

छत्र-त्रयं तव विभाति शशाङ्क कान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगित भानु कर-प्रतापम्।
मुक्ताफल प्रकर जाल विवृद्ध शोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

पदच्छेद : छत्र त्रयं तव विभाति शशाङ्क कान्तम्, उच्चैः स्थितं स्थगित भानुकर प्रतापम्। मुक्ताफल प्रकर जाल विवृद्ध शोभं, प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।

अन्वय : शशाङ्क-कान्तं भानुकर प्रतापं स्थगित मुक्ताफल प्रकरजाल विवृद्ध शोभं तव उच्चैः स्थितं छत्रत्रयं त्रिजगतः परमेश्वरत्वं प्रख्यापयत् विभाति।

शब्दार्थ : शशाङ्क-कान्तम् - चन्द्रमा के समान सुन्दर, भानुकर - सूर्य की किरणों के, प्रतापम् - प्रभाव को, स्थगित - रोकने वाले, मुक्ताफल - मोतियों के, प्रकरजाल - समूह वाली झालर से, विवृद्ध - बढ़ रही है, शोभम् - शोभा ऐसे, तव - आपके, उच्चैः - ऊपर स्थितम् - स्थित, छत्रत्रयम् - तीन छत्र, त्रिजगतः - तीन लोक के, परमेश्वरत्वम् - स्वामित्व को, प्रख्यापयत् - प्रकट करते हुए, विभाति - शोभायमान होते हैं।

श्लोकार्थ : हे जिनेन्द्र! जो चन्द्रमा के समान कांतियुक्त है, जिनके चारों ओर श्वेत मोतियों के समूह वाली झालारें शोभा को बढ़ा रही हैं ऐसे तीन छत्र आपके ऊपर सुशोभित हो रहे हैं वे तीनों छत्र सूर्य की प्रखर किरणों से उत्पन्न आतप को रोकते हुए मानो आपके तीनों जगत के परमेश्वरत्व को प्रकट करते हैं।

पाँचवां प्रातिहार्य – दुन्दुभि
गम्भीर तार रव-पूरित दिग्विभागस्-
त्रैलोक्य लोक शुभ सङ्गम भूति दक्षः।
सद्धर्म राज जय घोषण घोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर् ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥32॥

पदच्छेद : गम्भीर तार रव-पूरित दिग्विभागः, त्रैलोक्य लोक शुभ सङ्गम भूति दक्षः।
सत्-धर्मराज जय घोषण घोषकः सन्, खे दुन्दुभिः ध्वनति ते यशसः प्रवादी।

अन्वय : गम्भीर तार रवपूरित दिग्विभागः त्रैलोक्य लोक शुभसङ्गम भूतिदक्षः
सद्धर्मराज जयघोषण घोषकः सन् दुन्दुभिः ते यशसः प्रवादी खे ध्वनति।

शब्दार्थ : गम्भीर - गम्भीर, तार-रवपूरित - उच्च शब्द से गूँजा दिया है, दिग्विभागः -
दिशाओं के विभाग को जिसने ऐसा, त्रैलोक्य लोक - तीनों लोकों के जीवों को, शुभ-
सङ्गम - शुभ समागम की, भूतिदक्षः - सम्पत्ति देने में समर्थ, सद्धर्मराज - समीचीन
जैनधर्म के स्वामी की, जयघोषण - जयघोष की, घोषकः - घोषणा करनेवाला, दुन्दुभिः
- दुन्दुभि बाजा, ते - आपके, यशसः - यश का, प्रवादी सन् - कथन करता हुआ, खे -
आकाश में, ध्वनति - शब्द करता है।

श्लोकार्थ : आपके समवसरण (धर्मसभा) में देवगण आकाश में दुन्दुभि बजा रहे हैं,
उसकी गंभीर, स्पष्ट और मधुर ध्वनि ने समस्त दिग्मण्डल को गुंजायमान कर दिया है,
मानो, वह तीनों लोकों को प्राणियों को सत्समागम रूपी सम्पत्ति प्राप्त कराने की घोषणा
करती हुई श्रेष्ठ-समीचीन जैन धर्म की जय-जयकार करती हुई आपका यशोगान और जय
जयकार कर रही है।

छठवाँ प्रातिहार्य - पुष्पवृष्टि
मन्दार सुन्दर नमेरु सुपारिजात-
संतानकादि कुसुमोत्कर वृष्टि-रुद्धा।
गन्धोद बिन्दु शुभ मन्द मरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥33॥

पदच्छेद : मन्दार सुन्दर नमेरु सुपारिजात, सन्तानक आदि कुसुम उत्कर वृष्टिः उद्धा, गन्धोद बिन्दु शुभ मन्द मरुत् प्रपाता, दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिः वा।

अन्वय : गन्धोदबिन्दु शुभमन्द मरुत्प्रपाता उद्धा दिव्या मन्दार सुन्दर नमेरु सुपारिजात सन्तानकादि कुसुमोत्कर वृष्टिः ते वचसां ततिः वा दिवः पतति।

शब्दार्थ : गन्धोदबिन्दु - सुगन्धित जल की बूंदों, शुभ-मन्द - सुखकर मन्द, मरुत्प्रपाता - हवा के साथ गिरने वाली, उद्धा - श्रेष्ठ, दिव्या - मनोहर, मन्दार - मन्दार, सुन्दर - सुन्दर, नमेरु - नमेरु, सुपारिजात - पारिजात, सन्तानकादि - सन्तानक आदि, कुसुमोत्कर - कल्पवृक्ष के फूलों की, वृष्टि - वर्षा, ते - आपके, वचसाम् - वचनों की, ततिः - पंक्ति की, वा - तरह दिवः - आकाश से, पतति - गिरती है।

श्लोकार्थ : आपके समवसरण की पावन भूमि में सुगन्धित पवित्र जल की बूंदों के साथ शीतल मंद-मंद पवन के झोंकों के साथ लहराकर आकाश से गिरते हुए मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, संतानक आदि कल्पवृक्ष के सुन्दर उत्कृष्ट फूलों की वर्षा ऐसी प्रतीत हो रही है मानो आपके मुख से दिव्यध्वनि के रूप में वचनरूपी पुष्प ही बरस रहे हों।

सातवाँ प्रातिहार्य - भामण्डल

शुम्भत् प्रभा-वलय भूरि-विभा विभोस्ते,

लोक-त्रये द्युतिमतां द्युति माक्षिपन्ती।

प्रोद्यद् दिवाकर निरन्तर भूरि-संख्या,

दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम सौम्याम् ॥34॥

पदच्छेद : शुम्भत् प्रभा-वलय भूरि विभा विभोः ते, लोक-त्रये द्युतिमतां द्युतिम् आक्षिपन्ती, प्रोद्यत् दिवाकर निरन्तर भूरि संख्या, दीप्त्या जयति अपि निशाम् अपि सोम सौम्याम्।

अन्वय : लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिम् आक्षिपन्ती प्रोद्यत्-दिवाकर निरन्तर भूरिसंख्या दीप्त्या अपि सोम सौम्यां ते विभोः शुम्भत् प्रभावलय भूरिविभा निशामपि जयति।

शब्दार्थ : लोकत्रये - तीनों लोकों में, द्युतिमताम् - कान्तिवान पदार्थों की, द्युतिम् - कान्ति को, आक्षिपन्ती - तिरस्कृत करने वाली, प्रोद्यत् - उगते हुए, दिवाकर - सूर्य की, निरन्तर - निरन्तर, भूरिसंख्या - भारी संख्या वाली, दीप्त्या - कान्ति के लिए, अपि - भी, सोम सौम्याम् - चन्द्रमा के समान सुन्दर, ते विभोः - हे प्रभो! आपके, शुम्भत् - दैदीप्यमान, प्रभावलय - भामण्डल की, भूरिविभा - विशाल कान्ति, निशामपि - रात्रि को भी, जयति - जीत रही है।

श्लोकार्थ : हे प्रभो! आपके अत्यंत शोभनीय प्रकाशमान उज्ज्वल भामण्डल की ज्योति उदित होते हुए असंख्य सूर्यों की निरन्तर जगमगाती हुई तेजयुक्त कांति के समान है। उस ज्योति के सम्मुख तीनों लोक में जितने भी चमकीले देदीप्यमान पदार्थ हैं उनकी आभा भी तिरस्कृत हो जाती है। उसकी विलक्षणता यह है कि सूर्यों के तेज से अधिक प्रचण्ड होने पर भी पूर्णिमा के चन्द्रमा से अधिक शीतलता सौम्यता भी प्रदान करती है।

आठवाँ प्रातिहार्य - दिव्यध्वनि
स्वर्गापवर्ग गम मार्ग विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म तत्त्व कथनैक पटुस्-त्रिलोक्याः।
दिव्य-ध्वनिर् भवति ते विशदार्थ सर्व-
भाषा स्वभाव परिणाम गुणैः प्रयोज्यः॥३५॥

पदच्छेद : स्वर्ग-अपवर्ग गम मार्ग विमार्गण इष्टः, सत्-धर्म तत्त्व कथन एक पटुः त्रिलोक्याः। दिव्य-ध्वनिः भवति ते विशद-अर्थ सर्व, भाषा स्वभाव परिणाम गुणैः प्रयोज्यः।

अन्वय : ते दिव्यध्वनिः स्वर्गापवर्ग गममार्ग विमार्गणेष्टः त्रिलोक्याः सद्धर्म तत्त्व कथनैक पटुः विशदार्थ सर्वभाषा स्वभाव-परिणाम गुणैः प्रयोज्यः भवति।

शब्दार्थ : ते - आपकी, दिव्यध्वनिः - दिव्यध्वनि, स्वर्गापवर्ग - स्वर्ग और मोक्ष को, गममार्ग - जाने वाले मार्ग के, विमार्गणेष्टः - ढूँढने के लिए इष्ट, त्रिलोक्याः - तीन लोक के प्राणियों को, सद्धर्म तत्त्व - समीचीन धर्म तत्त्व के, कथनैक पटुः - कथन करने में समर्थ, विशदार्थ - स्पष्ट अर्थ वाली, सर्वभाषा - सम्पूर्ण भाषाओं में, स्वभाव - अपने आप, परिणाम - परिवर्तित होने वाले, गुणैः - गुणों से, प्रयोज्यः - सहित, भवति - होती है।

श्लोकार्थ : आपकी कल्याणकारी दिव्यध्वनि स्वर्ग एवं मोक्ष का मार्ग दिखाने वाली है। तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को समीचीन धर्म के तत्त्वार्थ को समझाने में पूर्ण सक्षम है, गम्भीर अर्थवाली होकर भी अत्यंत स्पष्ट है। अपनी वाणी में यह अलौकिक गुण है कि वह जगत् के सभी जीवों के लिए उनकी अपनी-अपनी भाषा के अनुरूप बोध देने की शक्ति से युक्त है अर्थात् जो उसे सुनता है वही उसे अपनी भाषा में सरलता से समझ लेता है।

स्वर्ण कमलों की रचना

उन्निद्र हेम नव पङ्कज पुञ्ज कान्ती,
पर्युल्-लसन् नख-मयूख शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥36॥

पदच्छेद : उन्निद्र हेम नव पङ्कज पुञ्ज कान्ति, परि-उल्लसत् नख-मयूख शिखा-
अभिरामौ। पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः, पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।

अन्वय : जिनेन्द्र! उन्निद्र-हेम नव-पङ्कज पुञ्ज कान्ति, पर्युल्लसन् नखमयूख
शिखाभिरामौ तव पादौ यत्र पदानि धत्तः तत्र विबुधाः पद्मानि परिकल्पयन्ति।

शब्दार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्रदेव! उन्निद्र-हेम - खिले हुए स्वर्ण के, नव-पङ्कज -
नवीन कमल, पुञ्ज कान्ति - समूह के समान कान्ति है जिनकी ऐसे, पर्युल्लसन् - सब
ओर से शोभायमान, नख-मयूख - नख की किरणों के, शिखाभिरामौ - अग्रभाग से सुन्दर,
तव - आपके, पादौ - चरण, यत्र - जहाँ, पदानि - कदम, धत्तः - रखते हैं, तत्र - वहाँ,
विबुधा - देव पद्मानि - कमल, परिकल्पयन्ति - रचना देते हैं।

श्लोकार्थ : हे जिनेन्द्र! आपके पावन चरणयुगल खिले हुए नवीन स्वर्ण कमलों के समान
कान्ति वाले हैं, उनके नखों से चारों ओर चमचमाती कान्ति फैल रही है। धर्मोपदेश के
लिए विहार करते समय आपके द्वारा जहाँ-जहाँ पग रखे जाते हैं वहाँ-वहाँ देवगण स्वर्ण
कमलों की रचना करते जाते हैं।

अद्वितीय विभूति

इत्थं यथा तव विभूति-रभूज्-जिनेन्द्र!

धर्मोपदेशन विधौ न तथा परस्य।

यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,

तादृक् कुतो ग्रह-गणस्य विकासिनोऽपि ॥३७॥

पदच्छेद : इत्थं यथा तव विभूतिः अभूत् जिनेन्द्र! धर्म उपदेशन विधौ न तथा परस्य।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहत अन्धकारा, तादृक् कुतः ग्रह गणस्य विकासिनः अपि।

अन्वय : जिनेन्द्र! इत्थं धर्मोपदेशन विधौ यथा तव विभूति अभूत् तथा परस्य न,
प्रहतान्धकारा यादृक् प्रभा दिनकृतः तादृक् विकासिनः अपि ग्रह-गणस्य कुतः?

शब्दार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्र! इत्थम् - इस प्रकार, धर्मोपदेशन - धर्म उपदेश के, विधौ
- कार्य में, यथा - जैसा, तव - आपको, विभूतिः - ऐश्वर्य, अभूत् - प्राप्त हुआ, तथा - उस
प्रकार, न परस्य - किसी दूसरे को नहीं हुआ। प्रहतान्धकारा - अंधकार को नष्ट करने
वाली, यादृक् - जिस प्रकार, प्रभा - कान्ति, दिनकृतः - सूर्य की हैं, तादृक् - उस प्रकार,
विकाशिनः - प्रकाशमान होते हुए, अपि - भी, ग्रह-गणस्य - अन्य ग्रहों की, कुतः -
कहाँ?

श्लोकार्थ : हे जिनेन्द्र! समवशरण में विराजित धर्मोपदेश के समय जैसी दिव्य विभूतियाँ,
जैसा ऐश्वर्य आपको प्राप्त हुआ, वैसी विभूतियाँ, वैसा ऐश्वर्य अन्य देवताओं को किंचित्
भी प्राप्त नहीं हुआ। सो ठीक ही है, क्या कभी अंधकार को नष्ट करने वाली जैसी कान्ति
सूर्य को प्राप्त है वैसी कान्ति टिमटिमाते हुए तारागणों को प्राप्त हो सकती है? अर्थात् नहीं
हो सकती है।

उन्मत्त हस्ति भय भंजक

श्च्योतन् मदाविल विलोल कपोल मूल-
मत्त-भ्रमद् भ्रमर नाद विवृद्ध कोपम्।
ऐरावताभ-मिभ-मुद्धत-मापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥38॥

पदच्छेद : श्च्योतन् मद आविल विलोल कपोलमूल, मत्त भ्रमद् भ्रमर नाद विवृद्ध कोपम्। ऐरावताभम् इभम् उद्धतम् आपतन्तं, दृष्ट्वा भयं भवति नः भवतः आश्रितानाम्।

अन्वय : भवतः आश्रितानां श्च्योतन् मदाविल विलोल कपोलमूल मत्त-भ्रमद् भ्रमर-नाद विवृद्ध कोपम् ऐरावताभम् उद्धतम् इभम् आपतन्तं दृष्ट्वा भयं नः भवति।

शब्दार्थ : भवतः - आपके, आश्रितानाम् - आश्रितों को, श्च्योतन् - झरते हुए, मदाविल - मद जल से मलिन, विलोल - चंचल, कपोलमूल - गण्डस्थल पर, मत्त-भ्रमद् - पागल घूमते हुए, भ्रमर-नाद - भौरों के शब्द से, विवृद्ध - बढ़ गया है, कोपम् - क्रोध जिसका ऐसे, ऐरावताभम् - ऐरावत की तरह, उद्धतम् - उदण्ड, इभम् - हाथी को, आपतन्तम् - सामने आते हुए, दृष्ट्वा - देखकर, भयम् - डर, नः - नहीं, भवति - होता है।

श्लोकार्थ : हे नाथ! झरते हुए मद से जिसका कपोलों का मूलभाग (गण्डस्थल) मलिन तथा चंचल हो रहा है और उस पर उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए भौरै अपने शब्दों से जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं, ऐसे ऐरावत हाथी के समान आकार वाले, उद्धत अर्थात् अंकुश से भी बस में न आनेवाले हाथी को देखकर भी आपके आश्रय में रहने वाले पुरुष उससे भयभीत नहीं होते। अर्थात् आपके शरणागत को मदोन्मत्त गजों से भी कोई भय नहीं होता है।

सिंहभय निवारक

भिन्नेभ कुम्भ गल-दुज्ज्वल शोणिताक्त-
मुक्ता-फल प्रकर भूषित भूमिभागः।
बद्ध-क्रमः क्रम गतं हरिणा-धिपोऽपि,
नाक्रामति क्रम युगाचल संश्रितं ते ॥39 ॥

पदच्छेद : भिन्न इभ कुम्भ गलत् उज्ज्वल शोणित-अक्त, मुक्ताफल प्रकर भूषित भूमि भागः, बद्धक्रमः क्रमगतं हरिण-अधिपः अपि, न आक्रामति क्रम-युग अचल संश्रितं ते।

अन्वय : भिन्नेभ कुम्भ-गलत् उज्ज्वल शोणिताक्त मुक्ताफल प्रकर भूषित भूमिभागः बद्धक्रमः हरिणाधिपः अपि क्रमगतं ते क्रम-युगाचल संश्रितं न आक्रामति।

शब्दार्थ : भिन्नेभ - विदारे हुए हाथी के, कुम्भ-गलत् - गण्डस्थल से गिरते हुए, उज्ज्वल - उज्ज्वल, शोणिताक्त - खून से सने हुए, मुक्ताफल - मोतियों के, प्रकर - समूह द्वारा, भूषित - शोभायमान किया है, भूमिभागः - पृथ्वीतल जिसने ऐसा, बद्धक्रमः - आक्रमण करने के लिए तैयार, हरिणाधिप - सिंह, अपि - भी, क्रमगतम् - पैरों के बीच आये हुए, ते - आपके, क्रम-युगाचल - चरण युगल रूप पर्वत का, संश्रितम् - आश्रय लेने वाले पर, न आक्रामति - आक्रमण नहीं करता।

श्लोकार्थ : जिस बलिष्ठ सिंह ने मदोन्मत्त विशालकाय हाथियों के उन्नत गण्डस्थलों को अपने नुकीले नाखूनों से क्षत-विक्षत करके उनसे निकलने वाले खून से सने गज मोतियों को बिखेर कर पृथ्वीतल को अलंकृत कर दिया हो ऐसा अपने शिकार पर छलाँग लगाकर आक्रमण करने के लिए तैयार खूंखार शेर भी अपने पंजों के बीच में आये हुए आपके भक्त पर वार नहीं कर सकता। आपका भक्त भयंकर सिंहों के भय से भी मुक्त रहता है।

अग्नि भय शामक

कल्पान्त काल पवनोद्धत वह्नि कल्पं,
दावानलं ज्वलित-मुज्ज्वल-मुत्स्फुलिङ्गम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुख-मापतन्तं,
त्वन्नाम कीर्तन जलं शमयत्य-शेषम् ॥40॥

पदच्छेद : कल्पान्त काल पवन उद्धत वह्नि कल्पं, दावानलं ज्वलितम् उज्ज्वलम् उत्स्फुलिङ्गम्। विश्वं जिघत्सुं इव सम्मुखम् आपतन्तं, त्वद् नाम कीर्तन जलं शमयति अशेषम्।

अन्वय : त्वन्नाम कीर्तन जलं कल्पान्तकाल पवनोद्धत वह्निकल्पं ज्वलितम् उज्ज्वलम् उत्स्फुलिङ्गं विश्वं जिघत्सुम् इव सम्मुखम् आपतन्तं दावानलम् अशेषं शमयति।

शब्दार्थ : त्वन्नाम - आपके नाम का, कीर्तन - गुणगान रूपी, जलम् - जल, कल्पान्तकाल - प्रलयकाल की, पवनोद्धत - वायु से प्रचण्ड, वह्नि-कल्पम् - अग्नि के तुल्य, ज्वलितम् - जलती हुई, उज्ज्वलम् - प्रकाशमान, उत्स्फुलिङ्गम् - चिंगारिया निकल रही हैं ऐसी, विश्वम् - संसार को, जिघत्सुम् - भक्षण करने की इच्छा रखने वाले की, इव - तरह, सम्मुखम् - सामने, आपतन्तम् - आती हुई, दावानलम् - वन की अग्नि को, अशेषम् - पूर्ण रूप से, शमयति - शांत करता है।

श्लोकार्थ : जंगल में लगी हुई प्रचण्ड आग (दावानल) जो कि प्रलय कालीन तीव्र हवा के झोंकों से धधक रही है, जिसमें से चारों ओर चिंगारियाँ उड़-उड़कर फैल रही हैं तथा जो समस्त भूमण्डल को भस्मसात करती हुई सी प्रतीत होती है, वह दावानल भी आपके पवित्र नाम स्मरण रूपी जल से पूर्ण रूप से बुझ जाती है, शांत हो जाती है। अर्थात् आपका भक्त अग्निभय से भी मुक्त रहता है।

सर्प भय दमनक

रक्तेक्षणं समद कोकिल कण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिन-मुत्फण-मापतन्तम्।
आक्रामति क्रम-युगेण निरस्त-शङ्कस्-
त्वन्नाम नाग-दमनी हृदि यस्य पुंसः ॥41॥

पदच्छेद : रक्त ईक्षणं समद कोकिल कण्ठ नीलं, क्रोध उद्धतं फणिनम् उत्फणम् आपतन्तम्। आक्रामति क्रम युगेण निरस्त शङ्कः, त्वद् नाम नाग दमनी हृदि यस्य पुंसः।

अन्वय : यस्य पुंसः हृदि त्वन्नाम नादमनी रक्तेक्षणं समद कोकिल कण्ठनीलं क्रोधोद्धतम् उत्फणम् आपतन्तं फणिनं निरस्त-शङ्कः क्रमयुगेण आक्रामति।

शब्दार्थ : यस्य - जिस, पुंसः - पुरुष के, हृदि - हृदय में, त्वन्नाम - आपके नाम रूपी, नागदमनी - नागदमनी औषधि है वह, रक्तेक्षणम् - लालवर्ण आँख वाले, समद - मद्युक्त, कोकिल-कण्ठ नीलम् - कोयल के कण्ठ की तरह काले, क्रोधोद्धतम् - क्रोध से उद्विग्न, उत्फणम् - फण को ऊपर उठाये हुए, आपतन्तम् - सामने आने वाले, फणिनम् - सर्प को, निरस्त-शङ्कः - शंका (भय) रहित होता हुआ, क्रमयुगेण - दोनों पैरों से, आक्रामति - लाँघ जाता है।

श्लोकार्थ : जिस पुरुष के हृदय में आपके नामरूपी नाग-दमनी जड़ी है वह पुरुष लाल नेत्रवाले, मद्युक्त, कोयल के कण्ठ के समान काले, क्रोध से उद्विग्न और फण को ऊपर उठाये हुए, भयानक साँप को भी निडर (निःशंक) होकर अपने पैरों से लाँघ जाता है। अर्थात् आपका भक्त सर्प भय से मुक्त रहता है।

संग्राम भय निवारक

वल्गात् तुरङ्ग गज गर्जित भीमनाद-
माजौ बलं बलवता-मपि भूपतीनाम्।
उद्यद् दिवाकर मयूख शिखा पविद्धं,
त्वत्कीर्त-नात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥42॥

पदच्छेद : वल्गात् तुरङ्ग गज गर्जित भीमनादम्, आजौ बलं बलवताम् अपि भूपतीनाम्।
उद्यत् दिवाकर मयूख शिखा अपविद्धम्, त्वत् कीर्तनात् तमः इव आशु भिदाम् उपैति।

अन्वय : त्वत् कीर्तनात् आजौ वल्गात्तुरङ्ग गजगर्जित भीमनादं बलवतां भूपतीनाम्
अपि बलम् उद्यत् दिवाकर मयूख-शिखा अपविद्धं तमः इव आशु भिदामुपैति।

शब्दार्थ : त्वत् - आपके, कीर्तनात् - यशोगान से, आजौ - युद्ध में, वल्गात्तुरङ्ग -
उछलते हुए घोड़े, गजगर्जित - हाथी की गर्जना से, भीमनादम् - भयंकर आवाज वाली,
बलवताम् - पराक्रमी, भूपतीनाम् - राजाओं की, अपि - भी, बलम् - सेना, उद्यत् - उगते
हुए, दिवाकर - सूर्य की, मयूख - किरणों के, शिखा - अग्रभाग से, अपविद्धम् - भेदे गये,
तमः - अंधकार की, इव - तरह, आशु - शीघ्र, भिदाम् - विनाश को, उपैति - प्राप्त होती
है।

श्लोकार्थ : ऐसे भीषण रणक्षेत्र में, जहाँ घोड़े उछल-उछल कर हिनहिना रहे हों, विशाल
हाथी भयंकर चिंघाड़ (आवाज) कर रहे हों, ऐसे शत्रुपक्ष के राजाओं की सेना अत्यंत
शक्तिशाली और अपराजेय हो तो भी वह आपके यशोगान से शीघ्र ही छिन्न भिन्न हो
जाती है, शीघ्र नष्ट हो जाती है, मानो उदित होता हुआ सूर्य अपनी प्रखर किरणों की
नोकों से अँधेरे को छिन्न भिन्न कर रहा हो। अर्थात् आपका भक्त शत्रु भय से मुक्त हो
जाता है।

युद्ध में विजय

कुन्ताग्र भिन्न गज शोणित वारिवाह-

वेगावतार तरणातुर योध भीमे।

युद्धे जयं विजित दुर्जय जेय पक्षास्-

त्वत्पाद पङ्कज वना-श्रयिणो लभन्ते ॥43॥

पदच्छेद : कुन्ताग्र भिन्न गज शोणित वारिवाह, वेग अवतार तरण आतुर योध भीमे। युद्धे जयं विजित दुर्जय जेय पक्षाः, त्वद् पाद पङ्कज वन आश्रयिणः लभन्ते।

अन्वय : त्वत्पाद पङ्कज वनाश्रयिणः कुन्ताग्र भिन्न-गज शोणित वारिवाह वेगावतार तरणातुर योधभीमे युद्धे दुर्जय जेय पक्षाः विजित जयं लभन्ते।

शब्दार्थ : त्वत्पाद - आपके चरण रूपी, पङ्कज - कमलों के, वनाश्रयिणः - वन का आश्रय लेने वाले, कुन्ताग्र - भालों के अग्रभाग से, भिन्न-गज - विदारे गये हाथियों के, शोणित - रक्त रूपी, वारिवाह - जल की धारा के, वेगावतार - प्रवाह से, तरणातुर - तैरने को व्याकुल, योध-भीमे - योद्धाओं के द्वारा भयंकर, युद्धे - युद्ध में, दुर्जय - कठिनाई से, जेय पक्षाः - जीतने योग्य पक्ष को, विजित - पराजित करके, जयम् - विजय, लभन्ते - पाते हैं।

श्लोकार्थ : हे देव! बरछी (भाले) की नोकों से छिन्न भिन्न हाथियों के रक्त की नदियों के प्रवाह में बह रहे हैं तथा उसे तैरने के लिए आतुर योद्धाओं से भयानक हो रहे, ऐसे भीषण युद्ध में आपके चरण कमल रूपी वन का आश्रय लेने वाले पुरुष कठिनाई से जीते जा सकने वाले (दुर्जय) शत्रुपक्ष को भी पराजित करके विजय को प्राप्त करते हैं। अर्थात् आपका भक्त सर्वत्र विजयश्री प्राप्त करता है।

भवसागर तारक

अम्भो-निधौ क्षुभित भीषण नक्रचक्र -
पाठीन पीठ भय दोल्वण वाड-वाग्नौ।
रङ्गत्-तरङ्ग शिखर स्थित यान पात्रास्-
त्रासं विहाय भवतः स्मरणात् व्रजन्ति ॥44॥

पदच्छेद : अम्भो-निधौ क्षुभित भीषण नक्र चक्र, पाठीन पीठ भय दोल्वण वाड-वाग्नौ, रङ्गत्-तरङ्ग शिखर स्थित यान पात्राः त्रासं विहाय भवतः स्मरणात् व्रजन्ति।

अन्वय : क्षुभित भीषण नक्र-चक्र पाठीन-पीठ भय दोल्वण वाडवाग्नौ रङ्गत्-तरङ्ग अम्भोनिधौ शिखर स्थित यानपात्राः भवतः स्मरणाद् त्रासं विहाय व्रजन्ति।

शब्दार्थ : क्षुभित - क्षोभ युक्त, भीषण - भयंकर, नक्र-चक्र - मगरमच्छों के समूह, पाठीनपीठ भय - मछलियों के द्वारा भय पैदा करने वाले, दोल्वण - विकराल, वाडवाग्नौ - बड़वानल, अम्भोनिधौ - समुद्र में, रङ्गत्-तरङ्ग - चंचल लहरों के, शिखरस्थित - अग्रभाग में स्थित, यानपात्राः - जहाज जिनका ऐसे, भवतः - आपके, स्मरणात् - स्मरण से, त्रासम् - भय, विहाय - छोड़कर, व्रजन्ति - गमन करता है।

श्लोकार्थ : भीषण मगरों, घडियालों, विशाल मछलियों तथा भयंकर वड़वाग्नि से आन्दोलित समुद्र की उछतली हुई तरंगों पर जिन पुरुषों के जहाज स्थित हैं वे पुरुष आपके स्मरण मात्र से उस समुद्र से बिना किसी भय के पार हो जाते हैं। अर्थात् आपका भक्त समुद्र भय से मुक्त हो जाता है।

व्याधि विनाशक

उद्भूत भीषण जलोदर भार-भुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत जीविताशाः।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥45॥

पदच्छेद : उद्भूत भीषण जलोदर भार भुग्नाः, शोच्यां दशाम् उपगताः च्युत जीविताशाः।
त्वद् पाद पङ्कज रजः अमृत दिग्ध देहाः, मर्त्या भवन्ति मकर-ध्वज तुल्यरूपाः।

अन्वय : उद्भूत भीषण जलोदर भार-भुग्नाः शोच्यां दशाम् उपगताः च्युत जीविताशाः
मर्त्या त्वत्पाद पङ्कज रजोऽमृत दिग्ध-देहा मकर-ध्वज तुल्यरूपाः भवन्ति।

शब्दार्थ : उद्भूत - उत्पन्न हुए, भीषण - भयंकर, जलोदर - जलोदर रोग के, भारभुग्नाः
- भार से झुके हुए, शोच्याम् - शोचनीय, दशाम् - अवस्था को, उपगताः - प्राप्त, च्युत
जीविताशाः - छोड़ दी है जीवन की इच्छा जिसने ऐसे, मर्त्या - मनुष्य, त्वद् - आपके,
पाद-पङ्कज - चरण कमलों की, रजः - धूलि रूप, अमृत - अमृत से, दिग्ध-देहाः - लिप्त
शरीर होते हुए, मकरध्वज - कामदेव के, तुल्यरूपाः - समान रूपवान, भवन्ति - हो जाते
हैं।

श्लोकार्थ : जिन मनुष्यों को अत्यंत भयंकर जलोदर रोग उत्पन्न हो गया हो, उसके भार
से जिनकी कमर टेढ़ी हो गई हो, जो अत्यंत शोचनीय दशा प्राप्त होकर जीने की आशा
छोड़ चुके हों, ऐसे मनुष्य भी यदि आपके चरणकमलों की रज से अपने को आच्छादित
कर लेते हैं अर्थात् आपकी भक्ति करते हैं तो वे सचमुच ही रोग मुक्त होकर कामदेव के
समान रूपवान बन जाते हैं।

बंधन मुक्ति

आपाद कण्ठ-मुरु श्रृंखल वेष्टि ताडगा,
गाढं बृहन्-निगड कोटि निघृष्ट-जडघाः।
त्वन्-नाम मन्त्र-मनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत बन्ध-भया भवन्ति ॥46॥

पदच्छेद : आपाद कण्ठम्-उरु श्रृंखल वेष्टित-अडगा, गाढं बृहत् निगड कोटि निघृष्ट जडघाः। त्वद् नाम मन्त्रम् अनिशं मनुजाः स्मरन्तः, सद्यः स्वयं विगत बंध भया भवन्ति।

अन्वय : आपादकण्ठम् उरु श्रृंखल वेष्टिताडगा गाढं कोटि बृहन्निगड निघृष्ट-जडघाः मनुजा अनिशं त्वन्नाम मन्त्रं स्मरन्तः सद्यः स्वयं विगत-बन्धभया भवन्ति।

शब्दार्थ : आपादकण्ठम् - पाँव से लेकर के कण्ठपर्यन्त, उरु-श्रृंखल-वेष्टिताडगा - साँकलों से जकड़ा हुआ शरीर वाला, गाढम् - अत्यन्त कसकर बांधी गई, कोटि - करोड़ों बृहन्निगड - बड़ी-बड़ी बेड़ी से, निघृष्ट-जडघाः - घिस गई हैं जाँघे जिनकी ऐसे, मनुजाः - मनुष्य, अनिशम् - निरन्तर, त्वन्नाम - आपके नाम रूपी, मन्त्रम् - मन्त्र को, स्मरन्तः - स्मरण करता हुआ, सद्यः - शीघ्र, स्वयम् - अपने आप, विगत बन्ध-भया - बन्ध-भय से रहित, भवन्ति - होते हैं।

श्लोकार्थ : जिनका शरीर नीचे से ऊपर अर्थात् पाँव से कण्ठ तक बड़ी-बड़ी साँकलों से जकड़ दिया गया हो, मजबूत लोहे की जंजीरों की नोकों से रगड़-रगड़कर जिनकी जंघाएँ बुरी तरह छिल गई हों, ऐसे कारागार में बन्दी पुरुष आपके नामरूपी मंत्र का निरन्तर स्मरण करने से स्वयमेव बंधन के भय से छूट जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं।

सर्व भय निवारक

मत्त-द्विपेन्द्र मृगराज दवानलाहि -
संग्राम वारिधि महोदर बन्ध-नोत्थम्।
तस्याशु नाश-मुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तव-मिमं मतिमान-धीते ॥47॥

पदच्छेद : मत्त-द्विपेन्द्र मृगराज दवानल-आहि, संग्राम वारिधि महोदर बन्धन-उत्थम्, तस्य आशु नाशम् उपयाति भयं भिया-इव यः तावकं स्तवम् इमम् मतिमान् अधीते।

अन्वय : यः मतिमान् तावकम् इमं स्तवम् अधीते तस्य मत्तद्विपेन्द्र मृगराज दवानल अहि संग्राम वारिधि महोदर बंधनोत्थम् भयं भिया इव आशु नाशम् उपयाति।

शब्दार्थ : यः - जो, मतिमान् - बुद्धिमान्, तावकम् - आपके, इमम् - इस, स्तवम् - स्तुति को, अधीते - पढ़ता है, तस्य - उसका, मत्तद्विपेन्द्र - उन्मत्त हाथी, मृगराज - सिंह, दवानल - वनाग्नि, अहि - साँप, संग्राम - युद्ध, वारिधि - समुद्र, महोदर - जलोदर रोग, बंधनोत्थम् - बन्धन आदि से उत्पन्न हुआ, भयम् - डर, भिया इव - मानो भय से ही, आशु - शीघ्र, नाशम् - विनाश, उपयाति - प्राप्त होता है।

श्लोकार्थ : इस प्रकार जो विवेकशील, बुद्धिमान, प्रज्ञावान भद्रपुरुष आपके इस परम पवित्र स्तोत्र का अनवरत नियमित श्रद्धा सहित चिन्तन, अध्ययन, आराधन और मनन करते हैं, उनके मदोन्मत्त हाथी, विकराल सिंह, भभकता दावानल, भयंकर सर्प, वीभत्स संग्राम, विक्षुब्ध समुद्र, कष्ट-साध्य जलोदर और बंधन जनित भय भी स्वयं भयाकुल होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं तथा आपके भक्तजनों की ओर लौटकर वार नहीं करते। अर्थात् भय स्वयं आपके भक्त से भयभीत होकर दूर हो जाता है।

स्तुति का फल

स्तोत्र-स्रजं तव जिनेन्द्र! गुणैर्-निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिर-वर्णं विचित्र-पुष्पाम्।

धत्ते जनो य इह कण्ठ गता-मजस्रं,

तं 'मानतुङ्ग' मवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥48॥

पदच्छेद : स्तोत्र स्रजं तव जिनेन्द्र! गुणैः निबद्धां, भक्त्या मया रुचिर वर्णं विचित्र पुष्पाम्।
धत्ते जनः य इह कण्ठ गताम् अजस्रं तं मानतुङ्गम् अवशा समुपैति लक्ष्मीः।

अन्वय : जिनेन्द्र! इह यः जनः मया भक्त्या गुणैः निबद्धां रुचिर-वर्णं विचित्र-पुष्पाम् तव
स्तोत्रस्रजं कण्ठगतां धत्ते तं मानतुङ्गम् अवशा लक्ष्मीः समुपैति।

शब्दार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनदेव! इह - इस संसार में, यः जनः - जो मनुष्य, मया - मेरे
द्वारा, भक्त्या - भक्ति पूर्वक, गुणैः - प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि गुणों से, निबद्धाम् - रची
गई, रुचिर-वर्णं - सुन्दर वर्ण रूपी, विचित्र-पुष्पाम् - विविध प्रकार के पुष्पों वाली, तव -
आपकी, स्तोत्र - स्तुति रूप माला को, अजस्रम् - निरन्तर, कण्ठगताम् - कण्ठ में, धत्ते
- धारण करता है, तम् - उस, मानतुङ्गम् - सम्मान से उन्नत पुरुष (मानतुंग) को, अवशा
लक्ष्मीः - स्वतंत्र स्वर्ग-मोक्षादि की विभूति, समुपैति - प्राप्त होती है।

श्लोकार्थ : हे जिनेन्द्रदेव! जैसे सुन्दर नयनाभिराम रंग-बिरंगे फूलों का हार कण्ठ में धारण
करने से मनुष्य शोभायमान होता है, वैसे ही इस महाप्रभावशाली स्तोत्ररूपी माला को
निरन्तर कण्ठस्थ करने से राज्य, स्वर्ग, सम्पदा आदि अभ्युदय और मोक्षरूपी लक्ष्मी
आदि निःश्रेयस की प्राप्ति स्वयमेव होती है।

॥ इति श्री मानतुङ्गाचार्य विरचित भक्तामर स्रोतम् ॥